प्रिय ग्रन्थमाला पुष्प सं० ५६
ब्रह्ममुनि ग्रन्थमाला पुष्प सं० २६

अभ्यास और वैराग्य

जिसमें—

योगदर्शन अन्य दर्शनों उपनिषदों तथा वेदों से अभ्यास और वैराग्य विषय को लेकर स्पष्टीकरणसहित और क्रियात्मक रूप में दिया है। विषय अपने में पूर्ण तथा [illegible] और सेवक स्वाध्याय और दैनिक सत्सङ्ग में कथा करने योग्य है।

लेखक और प्रकाशक—
स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड
गुरुकुल कांगडी, हरिद्वार।

पुस्तक मिलने का पता—
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,
दयानन्द भवन (रामलीला मैदान) नई दिल्ली-१

[प्र]थमवार १००० | श्रावण २०१८ वि० अगस्त १९६१ ई० | मूल्य एक रुपया ६५न.पै.

विषय-सूचि

ओ३म्

प्राक्कथन

मानव जीवन की दो दिशाएं हैं, एक बाहिरी दूसरी भीतरी। व्यक्तिजीवन, गृहस्थ जीवन, सामाजिक जीवन और राष्ट्रिय जीवन का बाहिरी दिशा से सम्बन्ध है। ईश्वर, आत्मा और मन भीतरी दिशा के पदार्थ हैं इन्हें ही भीतरी जीवन आन्तरिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन के नाम से कहते हैं। आध्यात्मिक जीवन मनुष्य का मौलिक जीवन है और वह बाहिरी जीवन का ऐसा प्रतिष्ठापक एवं आधार है जैसे वृक्ष का मौलिक जीवन उसके बाहिरी गुणों और भागों का प्रतिष्ठापक एवं आधार है। एक खेत है जिसमें एक गन्ने का पौधा है एक इमली का वृक्ष एक नीम का वृक्ष एक मरिच का पौधा और एक धतूरे का पौधा है। गन्ने को जिधर से भी चूसो तो मीठा लगता है इमली खाने में खट्टी नीम कड़वा मरिच चर्परी और धतूरा विष। खेत एक मिट्टी भी वही और जल भी समान है, फिर यह स्वादों का भेद क्यों है ? इसका कारण उस उस वृक्ष का अपना अपना मौलिक जीवन है। इस प्रकार किसी भी वृक्ष के बाहिरी जीवन या बाहिरी भाग चार हैं शाखा, पत्ते, फूल और फल। खेत एक मिट्टी एक जल आदि एक होने पर भी उक्त गन्ने आदि के शाखा, पत्ते, फूल और फल बाहिरी भाग अलग अलग होते हैं। इनका भी

कारण उनका अपना अपना मौलिक जीवन है। वृक्षके मौलिक जीवन के पदार्थ तीन हैं बीज, मूल और अंकुर। जिस जिस वृक्ष का जैसा जैसा मौलिक जीवन (बीज, मूल, अंकुर) होता है वैसा वैसा उस उसका स्वाद और बाहिरी जीवन के भाग (शाखा, पत्ते, फूल, फल) होते हैं। इसी प्रकार मानव के मौलिक जीवन के भी तीन पदार्थ हैं ईश्वर, आत्मा और मन। ये जैसे जैसे मानव के होंगे वैसा वैसा सुख दुःख या बाहिरी जीवन में विकास ह्रास होगा। वृक्ष के बाहिरी जीवन चार हैं शाखा, पत्ते, फूल और फल, तो इसी प्रकार मानव के भी बाहिरी जीवन चार हैं व्यक्तिजीवन, गृहस्थजीवन, सामाजिक-जीवन और राष्ट्रिय जीवन। मौलिक जीवन है मानव का आध्यात्मिक जीवन।

मानव के बाहिरी जीवन की इष्टसिद्धि या सुसिद्धि के लिये दो उपाय हैं ज्ञान और यत्न या प्रयत्न। इसी प्रकार उसके आध्यात्मिक (भीतरी) जीवन की इष्टसिद्धि या सुसिद्धि के लिये भी दो उपाय हैं यद्यपि ज्ञान और यत्न या प्रयत्न ही परन्तु वे आध्यात्म-क्षेत्र में प्रयुक्त होजाने से तथा उत्कृष्ट भूमिवाले बन जाने से एवं फल की पराकाष्ठा के कारण क्रमशः वैराग्य और अभ्यास नामसे कहे जाते हैं। योगदर्शन के व्यासभाष्य में वैराग्य की व्याख्या करते हुए कहा है "ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यं, तच्च ज्ञानप्रसादमात्रम्" (योग० १। १६) ज्ञान की ही पराकाष्ठा वैराग्य है वह ज्ञान का प्रखररूप है या निर्भ्रान्त ज्ञान है। और "एतस्यैव नान्तरीयकं कैवल्यम्" (व्यास १। १६) इस वैराग्य नामक ऊंचे ज्ञान–पराकाष्ठा को प्राप्त

ज्ञान के अनिवार्य सहयोग से कैवल्य अर्थात् मोक्ष होता है विना इसके नहीं। सांख्यदर्शन में भी ज्ञान से मुक्ति बतलाई है "ज्ञानान्मुक्तिः" (सांख्य० ३। २३) वेद में अमृत अर्थात् मोक्ष को विद्या से प्राप्त करने का वर्णन है। "विद्ययाऽमृतमश्नुते" (यजु० ४०। १४)। यत्न या प्रयत्न को अध्यात्म-क्षेत्र में अभ्यास नाम दिया गया है "तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः" (योग० १। १३) चित्त की अपनी स्थिति प्रशान्तवाहिता* प्रशान्तवाह-प्रशान्तप्रवाह से युक्त+ अर्थात् सत्त्वगुणप्रवाह से युक्त है, क्योंकि "प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वम्" (योग० १। २ व्यासः) प्रख्या–सत्त्वगुणमय या सत्त्वगुणस्तरवाला चित्त पदार्थ है। चित्त की स्थिति सत्त्वगुणस्तरवाली है, वह निवृत्ति की ओर झुकी हुई ही प्रशान्तवाहिता कही जाती है। इस स्थिति के सम्पादनार्थ यत्न–प्रयत्न करना अभ्यास कहलाता है।

अभ्यास का क्षेत्र चित्त को अपनी स्थिति में लाने तक है स्थित चित्त के अनन्तर असम्प्रज्ञात समाधि के सम्पादन में या मोक्षसाधना में वैराग्य ही उपयुक्त होता है×। अध्यात्म को साधने में प्रवृत्त ज्ञान और यत्न या प्रयत्न ही क्रमशः वैराग्य और अभ्यास (योगाभ्यास) नाम से कहे जाते हैं यह निष्कर्ष है। ये वैराग्य और अभ्यास ही वस्तुतः मानव के भावी आत्मसम्पत्ति का रक्षित सुप्रतिफल (बीमा) है, देह तो भस्मान्त है परन्तु आत्मसम्पत्ति स्थिर है देह के भस्म

---

* "चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः" (योग० १।१३ व्यासः)
+जैसे पत्रित पुष्पित फलित दुःखित तरङ्गित तारकित आदि प्रयोगहैं।
× "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" (योग० १। १८)

होजाने पर भी प्राप्त हो जाती है। सेठ की कुटीर आग में भस्म होजाने पर भी उसे सम्पत्ति बीमा करा देने से मिल ही जाती है, कुटीर के भस्म होजाने की चिन्ता नहीं, वैराग्य और अभ्यास साध चुकने वाले मानव की देह कुटीर के भस्म होजाने पर आत्मसम्पत्ति (अध्यात्मसम्पत्ति) सुरक्षित मिलती है ही । देहकुटीर भस्म हुई तो क्या ?

उक्त वैराग्य और अभ्यास का वेद आदि शास्त्रों और योगदर्शन में किया हुआ वर्णन यहां विशाद एवं स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करते हैं प्रथमस्थली मध्यमस्थली उत्तमस्थली और सिद्धस्थली क्रम देकर।

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

अभ्यास और वैराग्य

प्रथम स्थली

प्रयत्न सीमित, अल्पस्थानी और अल्पायुवाला है ज्ञान असीमित; महास्थानी और दीर्घायुवाला है*। प्रयत्न से पूर्व और पश्चात् अपनी सत्ता रखनेवाला ज्ञान है, ज्ञानेन्द्रियों से किसी भी गन्ध रसरूप स्पर्श-शब्द वाली वस्तु का ज्ञान होने पर उसके उठाने खाने आदि उपयोग करने को प्रयत्न करता है; उपयुक्त हो चुकने के पश्चात् उसके सम्बन्ध में आभास रूप (भोगाभासरूप) ज्ञान स्थिर हो जाता है यह संसार में देखते हैं। इसी प्रकार अध्यात्म साधना में प्रवृत्त हुए प्रयत्न और ज्ञान जो कि अभ्यास और वैराग्य कहलाते हैं उनकी भी स्थिति यही है अर्थात् अभ्यास सीमित, अल्पस्थानी और अल्पायु-वाला है तथा वैराग्य असीमित, महास्थानी और दीर्घायुवाला है। अभ्यास से पूर्व और पश्चात् अपनी सत्ता रखनेवाला वैराग्य है। जब सांसारिक, भोग वस्तुओं की प्राप्ति में प्रयत्न करते करते मनुष्य श्रान्त और उन्हीं वस्तुओं को भोगते भोगते भोगज्ञान से अशान्त हो जाता है तब अपने प्रयत्न और ज्ञान के प्रवाह को सांसारिक वस्तुओं से हटाकर अध्यात्म साधना में प्रवृत्त करता है तो ये प्रयत्न

---

* अनन्ता वै वेदाः।

और ज्ञान उस समय अभ्यास और वैराग्य का रूप धारण कर लेते हैं जिनके अनुष्ठान से मानव विश्रान्त और प्रशान्त बन जाता है। जैसे गन्ध रस रूप स्पर्श शब्दवाली वस्तुओं का ज्ञान प्रथम होता है ऐसे ही उन वस्तुओं से उनके भोगपरिणाम दुःख को अनुभव करके वैराग्य (ग्लानि वैराग्य) उत्पन्न होता है। दुःख और ग्लानि का प्रतिद्वन्द्वी या प्रतियोगी सुख और प्रसन्नता है, तब उसका भी स्थान या आधार है वह है अध्यात्म तत्त्व। उसकी ओर प्रवृत्ति और निरन्तर चिन्तन होना ऊंचा वैराग्य है, सांसारिक ताप-आतापों यातना-बाधाओं से मानव दुःखित और तङ्कित होकर अध्यात्मनिष्ठ हो वैराग्य और अभ्यास की शरण लेता है; प्रथम वैराग्य और पश्चात् अभ्यास यह क्रम है। वैराग्य तो ज्ञानरूप है और अभ्यास प्रयत्नरूप है जैसे वैराग्य ऊंचा ज्ञान है वैसे ही अभ्यास ऊंचा प्रयत्न है उस ऊंचे प्रयत्नरूप अभ्यास की ओर पग विना वैराग्य के नहीं रखा जा सकता। अभ्यास तो पर्वतारोहण के समान कठिनतम कार्य है जो ही भूस्थल पर ताप कष्ट अनुभव करे और पर्वत पर शान्त सुख सुरम्यता लक्षित करे वह ही पर्वतारोहण कठिनतम कर्म करता है। इस पर भी पर्वतप्रदेश कश्मीर आदि के सुरम्य आदि स्वरूप का प्रथम ज्ञान वहां के व्यक्ति से सुने या पुस्तक से पढ़े या वहां के केशर सेव आदि से लक्षित करे तभी उसकी यात्रा का साहस किया जाता है। वेदान्तदर्शन में "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (वेदा० १।१।१) ब्रह्मजिज्ञासा-ब्रह्ममीमांसा या ब्रह्म की खोज में प्रवृत्ति से पूर्व 'अथ' शब्द अनन्तर अर्थ में संसार में रोग वियोग भोगरूप दुःखों को देख

लेने और संसार के नश्वरत्व और अनित्यत्व का अनुमान कर लेने के अनन्तर ही व्यास की दृष्टि में है अन्यथा अभिप्राय में नहीं यह जानना चाहिये, ब्रह्मजिज्ञासा से पूर्व वैराग्य अनिवार्य है। संसार में दुःख ताप के स्वयं दृष्ट या अनुमित (अनुमान से लक्षित किऐ हुए) अथवा शास्त्र तथा महात्माओं द्वारा श्रुत हो जाने पर ही संसार से विमुखता होना प्रथम वैराग्य है। मानव की यह आकांक्षा है कि "मैं न मरूं" यह आकांक्षा सबकी है और स्वाभाविक है, आकांक्षा का आकांक्ष्य पदार्थ कहीं होता है तभी तो आकांक्षा होती है अविद्यमान की आकांक्षा सम्भव नहीं। नगर में रहनेवाला एक चार वर्ष का बालक अपने मामा के साथ छोटे ग्राम में आया उसने आकर जलेबी मिठाई की रट लगाई जलेबी खाऊंगा परन्तु उस छोटे से ग्राम में न हलवाई की दुकान थी और न वहां के लोग जलेबी को ही जानते थे कि जलेबी कोई वस्तु होती है परन्तु जलेबी को नगरवासी बालक नगर में खा चुका ही था जिसकी उसे आकांक्षा थी, यह ठीक है, ग्राम में जलेबी नहीं, पर आकांक्षा सिद्ध करती है ग्राम में नहीं अन्यत्र नगर में तो है ही। जिसका वह स्मरण करता है मृत्यु का दुःख इस जन्म में नहीं देखा पर मृत्यु का भय सिद्ध करता है कभी तो मृत्यु का दुःख देखा है सो पूर्वजन्म में इसी प्रकार अमरता का सुख भी देखा है मुक्ति में जिसकी आकांक्षा यहां है और वेद में उस मुक्तिसुख का स्मरण भी दर्शाया है "क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुराचित्। बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते॥ (ऋ० ७। ८८। ५) हे आनन्दरसपूर्ण वरुण परमात्मन्! हम दोनों

के वे सखिभाव-समान ख्यान-समान सुखसम्बन्ध कहां चले गए पहिले जो अच्छिन्न अभिन्न थे उन्हें हम फिर सेवन करें—बनावें, परिणाम वाले संसार को माप में तुच्छ करने वाले महान् परिमाण-वाले असीम मुक्तिधामरूप सहस्रद्वारों वाले तेरे खुले विचरण सदन को हम प्राप्त करें यह स्वाभाविक आकांक्षा सिद्ध करती है कि कोई स्थिति है जबकि अमरता प्राप्त होती है, तभी वेद ने भी इस आकांक्षा को प्रदर्शित किया है "मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्" (ऋ० ७ । ५९ । २, यजु० ३ । ७) मैं मृत्यु से छूट जाऊं अमृत से नहीं उसे तो प्राप्त करलूं । यह वैराग्य का वैदिक स्वरूप है जोकि उत्कृष्ट है। जैसे सांसारिक दुःख से ग्लानि और सुख में अभिरुचि अवर वैराग्य है एवं मृत्युरूप महादुःख से ग्लानि और अमृतरूप महान् आनन्द में अभिरुचि होना पारमार्थिक वैराग्य है क्योंकि मृत्यु में महादुःख और अमृत (मोक्ष या निज अमरत्व) में महान् आनन्द है। अत एव उप-निषद् में भी कहा है "मृत्योर्माऽमृतं गमय" (बृहदा० १ । ३ । २८) मृत्यु से मुझे अमृत की ओर ले चल। इस प्रकार विवेचन से स्पष्ट हुआ कि अभ्यास से पूर्व वैराग्य का स्थान है अत एव प्रथम वैराग्य और पश्चात् अभ्यास का प्रतिपादन करेंगे। यद्यपि पुस्तक का नाम "अभ्यास और वैराग्य" दिया गया है सो शिष्टमर्यादा का अनुसरण है, योगदर्शन में "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" (योग० १।१।१२) चित्तवृत्तियों के निरोधार्थ सूत्र में प्रथम अभ्यास और पश्चात् वैराग्य को रखा है परन्तु प्रथम पाद में वैराग्य का प्रतिपादन है और अभ्यास (योगाभ्यास) अष्टाङ्ग योग का वर्णन साधनपाद नामक दूसरे पाद

में दिया अतएव दूसरे पाद का नाम साधन पाद रखा है। शब्द-शास्त्र की शिष्टता में भी वैराग्य से पूर्व अभ्यास को बोलना उचित है उसके अल्पाच्तर अल्पमात्रावाला होने से, अभ्यास शब्द में एक ही अच् (स्वर) द्वैमात्रिक है परन्तु वैराग्य शब्द में दो अच् (स्वर) द्वैमात्रिक हैं। किन्तु ग्रन्थ के प्रतिपाद्य क्रममें प्रथम वैराग्य का वर्णन होना समुचित है मानव के मन में प्रथम वैराग्य उत्पन्न होता है पश्चात् ही अभ्यास का अनुष्ठान करता है। अतएव प्रथम वैराग्य का प्रतिपादन करते हैं पश्चात् अभ्यास का करेंगे। प्रथम स्थली में प्रथम श्रेणी के वैराग्य और अभ्यास को ही देंगे।

वैराग्य

यद्यपि वैराग्य का अवर या छोटा रूप अभी हम दर्शा चुके हैं किसी दुःख या दुःखदायक वस्तु एवं ताप या तापकारी वस्तु तथा श्रान्त या अशान्त करनेवाली वस्तु के प्रति ग्लानि हो जाना वैराग्य है। तथापि योगसूत्र के द्वारा अब प्रदर्शित करते हैं।

दृष्टश्रुत विषयों से तृष्णारहितता—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥

(योग० १।१५)

दृष्ट-इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किए हुए तथा आनुश्रविक-शास्त्रों एवं महात्माओं के उपदेशों द्वारा श्रवण किए हुए विषयों से तृष्णा-रहित हुए जन की अपने को वशीभूत रखनेवाली ग्लानि भावना, कि ये विषय दुःखदायक और पतन की ओर ले जाने वाले हैं, ऐसी

विवेचना बनाए रखना वैराग्य है* ।

उक्त वैराग्य अवरकोटि का है जो कि ग्लानिरूपहै विषय के दोष-दर्शन से होता है, जैसे कोई बालक भूल से लाल मरिच को उठाकर खाले मुख जलने पर कष्ट अनुभव कर उससे उसे ग्लानि हो जाती है वह उससे विरक्त हो जाता है फिर उसे नहीं खाता है। यह उसको मरिच के दोषदर्शन से ग्लानि वैराग्य है। परन्तु जब रुचिकर मीठा फल खाने को मिल जाता है तब उस मीठे फल में प्रवृत्ति होजाना मरिच के दर्शन चिन्तन को भी न करना मरिच की दिशा में भी न जाना पर वैराग्य ऊंचा वैराग्य है इसका विशेष वर्णन उत्तम स्थली में होगा।

विषयों के दोषदर्शन से अवर वैराग्य—ग्लानि वैराग्य होता है, विषयों की कामना मानव के अन्दर होती है। परन्तु कामना या भोगेच्छा पूरी नहीं होती—

---

* सूत्र के 'वशीकारसंज्ञा' शब्द में 'संज्ञा' शब्द सज्ञान अर्थात् अनुभूति या भावना के अर्थ में है। वह अनुभूति व्यासभाष्य के अनुसार "अनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा" अर्थात् विषयों को न भोगनेरूप द्वेष और राग से शून्य वशीकारानुभूति वैराग्य कहलाता है। भोजवृत्ति के अनुसार "तयोर्द्वयोरपि विषययोः परिणामविरसत्व-दर्शनाद् विगतगर्धस्य वशीकारसंज्ञा-ममैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति योऽय विमर्शस्तद् वैराग्यमित्युच्यते" (भोजः) उन दृष्ट और आनुश्रविक विषयों के भी परिणाम की विरसता-निःसारता-हानिकारकता के देखने अनुभव करने से उनमें इच्छारहित हुए जन की वशीकारसंज्ञा-वशीकारानुभूति कि ये विषय मेरे वश में हैं मैं इनके वश में नहीं हूं यह विचार या निश्चय रखना वैराग्य कहलाता है।

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः । ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वाहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि ॥ (अथर्व० ९ । २ । १९)

जब सृष्टि उत्पन्न हुई तो प्राणियों के अन्दर प्रथम कामभाव जागा, इसे न देवों--ऊंचे विद्वानों ने पूरा किया न पितरों पालक सत्ताधारियों ने और न मनुष्यों ने । वह तू कामभाव ! ज्येष्ठ है सदा महान् है अतः हे काम ! उस तेरे लिये नमस्कार करता हूं तेरे पूरा करने में असमर्थ होने से तुझसे हार मान तेरे सम्मुख नहीं आता हूं तेरे आगे से हट जाता हूं । या तेरे जैसे महान् शक्तिशाली को जो सब को अपने उदर में धर लेने पर तृप्त नहीं होता उसके लिये "नमः-वज्र"* प्रहार ही समर्पित करता हूं तेरा स्वागत नहीं किन्तु प्रतिरोध ही करता हूं।

कामभाव पूरा होनेवाला नहीं है इसे जो पूरा करने को शिर उठाता है वह ही पूरा होजाता है "भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः" भोग पूरे नहीं हुए हम ही पूरे हो गए । इस पर तो अभ्यास और वैराग्य का प्रबल प्रहार ही करना ठीक है । "समुद्र इव हि कामः । न कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य" कामभाव तो समुद्र की भांति है जैसे ही समुद्र का अन्त नहीं ऐसे ही कामभाव का भी अन्त नहीं । मनु ने भी कहा है "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥" (मनु० २ । ९७)

* "नमः वज्रनाम" (निघ० २ । २०)

कमनीय भोगों—विषयों के भोगने से कामभाव—इच्छाभाव शान्त नहीं होता किन्तु घृत के डालते रहने से बढ़ती हुई आग की भांति बढ़ता चला जाता है "भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम्" भोगों को भोगने से राग बढ़ते हैं यह इन्द्रियों का कौशल–कुशल व्यवहार है। कमनीय विषय को विष से भी अधिक हानिकर कहा गया है "विषस्य विषयाणां च दृश्यते महदन्तरम्। उपयुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि॥" विष तो खाया पीया हुआ ही मारता है विषय स्मरणमात्र से मार देते हैं। "पतङ्ग-मातङ्गकुरङ्गभृङ्गमीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च। एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥" पतङ्ग कीट रूप-व्यसन वश अग्नि या दीपक पर गिरकर जल मरता है, हाथी स्पर्श-व्यसन के कारण गढ़े में गिर अपने को पकड़वा देता है, हरिण शब्दव्यसनवश व्याध के जाल में बन्ध जाता है, भंवरा गन्धव्यसनवश फूल के अन्दर बन्द होकर मर जाता है, मछली रसव्यसनवश काण्टे-वाली आटे की गोली को निगल अपने प्राण छोड़ देती है।

पतङ्गकीट आदि पांचों प्राणियों के सम्बन्ध में कवियों या सङ्गीतज्ञों की भाषा में कहा जाता है—

रूपव्यसनवश दीपशिखा पर कीटपतङ्ग का जल भुनना।
स्पर्शव्यसनवश गिर गर्त में हाथी का न हिल सकना।
शब्दव्यसन में फंसकर हिरणा भूल गया कूद उछलना।
गन्धव्यसनवश हो बन्द कमल में भंवरे का भी मर मिटना।
रसव्यसनवश मछली का भी फंस काण्टे में तड़प मरना।

ये पांचों प्राणी एक एक व्यसन के वश में होकर अपने को विनष्ट कर देते हैं परन्तु मनुष्य पांचों इन्द्रियों के पांचों व्यसन रखने-वाला यदि प्रमादी बनकर इनका सेवन करे तो कैसे न मारा जायगा।

पांचों व्यसनों की कथा तो दूर रही एक भी व्यसन में फंसकर मानव इतना तक अधीर हो जाता है कि आत्महत्या जैसा अनिष्ट पातक कर्म करने में सङ्कोच नहीं करता, इस विषय में शिक्षाप्रद एक चर्चा प्रस्तुत करते हैं—

किसी पर्वतप्रदेश में योगी सोमानन्द* सायं समय ध्यानसमाधि से निवृत्त हो अपनी कुटी से बाहिर आकर कुछ भ्रमण कर रहे थे तो देखा कि "एक युवक विलाप कर रहा था कि मेरी प्यारी सोमावती! तू मुझे अकेला छोड़ चली, क्या मेरा तेरा सम्बन्ध टूट जाने के लिये था? तेरे वियोग में रोते रोते तीन दिन हो गए आज तो मुझसे रहा नहीं जाता तेरा वियोग सहा नहीं जाता। जहां तू गई मैं भी वहां आता हूं। मैं अपने को तेरे अर्पण करता हूं तू मर गई तो यह ले मैं भी मरता हूं? ऐसा कह अधीर हो युवक ने अपने को खड्ड की ओर लुढका दिया। योगी ऐसा दृश्य देख युवक को बचाने के लिये दौड़े, यद्यपि योगी ने खड्ड में जा गिरने से पूर्व बीच से ही युवक को सम्भाल लिया पर युवक आन्तरिक आघात से अचेत हो गया था, योगी ने तुरन्त सोम बूटी का रस उसकी नासिका और मुख में निचोड़ कर उसे सचेत कर लिया और अपनी कुटी पर लाकर धैर्य दे उसे पूछा कि क्या बात है!

* सोम – परमात्मा का आनन्द लेनेवाला।

युवक—मेरी प्यारी सोमावती मर गई, हाय उसके विना नहीं रह सकता, मैंने मरने को ठानी थी आपने मुझे बचा लिया मुझे मरने क्यों न दिया दुःख से छुटकारा हो जाता, मेरी सोमावती को लादो।

योगी—बच्चा ! क्या तू यह समझता है कि तेरी सोमावती, मर गई, वह नहीं मरी, क्या आत्महत्या से तू मर जाता। न मरता "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" देख इस दीपक में बत्ती जल रही है वह अब छोटी सी रह गई है कुछ देर में यह ज्वाला न रहेगी (बत्ती जलकर भस्म हो गई ज्वाला व्योम में चली गई, योगी ने पूछा) क्या तुझे पता है वह शुभ्र ज्वाला कहां चली गई ?

युवक—नहीं।

योगी—वह नष्ट नहीं हुई, इस अनन्त व्योम में चली गई। लो यह दूसरी बत्ती डालो और जलाओ (जलाते ही तुरन्त ज्वाला आगई) देखा युवक ! वही ज्वाला, पर दूसरी बत्ती में। पहिली बत्ती भस्म हो गई थी ज्वाला नष्ट नहीं हुई थी, दूसरी बत्ती में आ गई। इसी प्रकार तुम्हारी सोमावती नष्ट नहीं हुई।

वह अमर है दूसरी देह में चली गई। तू भी न मरता दूसरी देह में चला जाता। यदि तू अब दुःख भार को शिर पर उठाए हुए है तो दूसरी देह में भी उठाना पड़ेगा। भार उठाने से बचने का उपाय टोकरी को तोड़ डालना नहीं है वह तो दूसरी मिल जावेगी किन्तु उपाय तो भार उठाने की प्रवृत्ति को त्याग देना है विवेकी वैराग्य-वान् बनकर। फिर न कोई भारवाली टोकरी उठाने को कहेगा और न उसे उठाने की रुचि रहेगी। जुलाहा इस मानव देह का सदुपयोग

न करके दुःख में पड़ इसे आत्महत्या से नष्ट करे तो फिर मकड़ी बने ताने बाने से तो न छूटा वह तो बुनना ही पड़ा और भी अधिक बुरी दशा में बुनना पड़ा। प्यारे युवक ! तू सोमावती को प्राप्त करना चाहता है या सोम को ?

युवक—महाराज मैं समझा नहीं, स्पष्ट कर कहें।

योगी—आनन्दवती को प्राप्त करना चाहता है या आनन्द को ?

युवक—महाराज ! क्या आनन्दवती और आनन्द में भेद है।

योगी—हां ! बड़ा भारी भेद है, प्राप्त की हुई आनन्दवती (आनन्द की पोटली) को कोई ले जावे या वह स्वयं चली जावे तो फ़िर आनन्द भी उसके साथ चला जावेगा। जब स्वयं आनन्द को प्राप्त कर लेगा तो स्वयं (आनन्दी आनन्दवान्) बन जावेगा* वह आनन्द तेरे साथ सदा रहेगा। आनन्द ही सच्चा सोम है वह तेरे अन्दर है तेरे आत्मा में है।

युवक—अच्छा महाराज ! उस आनन्द को मुझे प्राप्त करावें।

योगी—वह आनन्द आनन्दस्वरूप परमात्मा है। उसे अन्तर्मुख होकर प्राप्त कर ध्यानयोग से देख। बच्चा संसार की वस्तुएं न किसी को अपनाती हैं न कोई इन्हें अपना सकता है। वियोग प्रत्येक का प्रत्येक से अटल है, सुखसम्बन्ध रखनेवाली वस्तुएं फिर दुःख भी असीम दे जाती हैं; तुला पर तोलो तो दुःख का पलड़ा भारी होजाता है, पुनः वह वस्तु सुख का हेतु तो न रही दुःखदायक ही

* "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" (तै० उ० २।७)

रही। सुख तो कुछ देर में हवा में काफूर हो जाता है अन्त में दुःख का पहाड़ गिरने से शिर चकनाचूर हो जाता है। भला जिस भौतिक सुखराग का रंग आत्मा पर ठहरता ही नहीं फिर उससे आत्मपट को रंग कर दूषित और व्याकुलित क्यों करता है? अरे! जो समस्त रंगों का मूल रंग निष्कलङ्क शुभ्र और न मिटनेवाला अनुपम सुखरंग ब्रह्म का आनन्द है उसका अपने आत्मा पर तन्मयता से रंग चढा अपने हृदय में प्राप्त कर यही सच्चा सोम सबसे प्यारा सोम है, इसी सोम के आश्रय से तेरी सोमावती सोमावती थी वही सोम बूटी सोम में सोमत्व प्रदान करता है जिसे पिलाकर मैंने तुझे सचेत किया जीवन दिया था। यही मुझ सोमानन्द में आनन्द का देने हारा! सोम सोम !! प्यारा सोम !!! अमर सोम।

क्या कहना यदि ऐसा हो—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

(कठो० ६। १५)

जबकि मानव के हृदय में रखी हुई या बसी हुई सब कामनाएं छूट जाती हैं तो मनुष्य अमर बन जाता है और ब्रह्मानन्द का भोग करता है।

जब तक हृदय में कामना रहेगी तब तक ब्रह्म का आगमन या समागम वहां नहीं हो सकता क्योंकि हृदय पात्र रिक्त नहीं है किन्तु कामनाओं को जब मानव त्याग देता है तो वह अमृत--अमर हो जाता है और ब्रह्म को प्राप्त करता है, कामनाओं के बने रहते

हुए उपनिषद् वचन में उसे मर्त्य नाम दिया है "मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्याः"। (महाभाष्य व्याकरण) मर्त्य = मरणधर्मवाला। कामनाओं के पीछे पड़कर मनुष्य मरणधर्मा होजाता है कमनीय वस्तु न मिली तो यह कहता है हाय! मैं मरा मुझे वह मिलनी चाहिए, कमनीय वस्तु मिल जाने पर उसके अधिक सेवन से रोगी होजाता है "भोगे रोगभयम्" रोगी होकर पेटदर्द में हाय मरा, शिरदर्द में हाय मरा, अतिसार (दस्त रोग) में हाय मरा, ज्वरवेग में हाय मरा, मानस ताप में हाय मरा, शोकसन्ताप में हाय मेरा, कमनीय वस्तु के नाश में हाय मेरा और अधीरता बढ़ जाने पर हृद्गतिभंग (हार्टफेल) से मर जाता ही है और आत्महत्या द्वारा भी प्राण त्याग देता ही है।

काम आदि दोषों के परिणाम—

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा,
मृत्युः प्राणान् हरति धर्मचर्यामसूया।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा,
ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः॥

(महाभा० उद्योग प० प्रजा० अ० ३५।५०)

जरा—बुढापा मानव के रूप—सौन्दर्य को नष्ट कर देता ही है एवं रूप—स्वरूप को भी नष्ट कर देता है जीवनसम्पत्ति और शक्ति को नष्ट कर देता है। इस अवस्था में बलवानों पहलवानों का भी तेज कान्ति बल आदि समाप्त होजाता है मुख तथा शरीर का आकार सूखा सुकड़ा इन्द्रियों की आकृति बदल जाती है शक्ति मन्द होजाती है। आशा मानव के धैर्य को खोदेती है जिस पर आशा बान्धी जाती

है अधीर हो उसके पास पुनः पुनः चक्र लगाता है अपने आप कर्म करने में धैर्य जाता रहता है आशा पूरी न होने पर अधीर हो जाता है अधीरता से हृद्गतिभङ्ग (हार्टफेल) होजाता है या आत्महत्या तक कर लेता है। मृत्यु मानव के सर्वाधिक प्रिय वस्तु प्राणों को हर लेता है उसे फिर 'था' में कहलवाता है अमुक था। असूया—निन्दा निन्दनीय कर्म मानव के धर्माचार को नष्ट कर देता है। क्रोध मानव की शोभा को नष्टकर देता है—विद्यासम्पन्न होकर क्रोध करता है सदाचारी होकर क्रोध करता है, दानी होकर क्रोध करता, यज्ञादि धर्मकार्य करता हुआ क्रोध करता है ध्यानी महात्मा होकर क्रोध करता है। विद्या, सदाचार, यज्ञ, आदि धर्मकर्म, ध्यान की शोभा को महत्त्व को मिटा देता है। अनार्य सेवा—दुर्जन सेवा मानव के शील को सौजन्य सद्भाव को खो देती है। कामभाव मानव की लज्जा शिष्टता और प्रतिष्ठा को धूलि में मिला देता है। अभिमान धन, बल, विद्या को अभिमुख-लक्ष्य कर अनुपयुक्त मान अभिमान दानसदुपयोग में धन न लगाकर बल से-निज शरीर बल से दूसरे का त्राण न करके अपनी विद्या को दूसरे तक न पहुँचा कर अपने को धनवान् बलवान् और विद्यावान् मान कर ही रहना सब गुणों को नष्ट करता है।

अतएव काम आदि दोषों का दमन करना चाहिए। और श्रेष्ठ लक्ष्य श्रेयोमार्ग का अवलम्बन करने के लिये विलम्ब नहीं करना चाहिए, क्योंकि मृत्यु प्रतीक्षा नहीं करता है।

न जाने कब किस का मृत्य होजावे—

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वा कृतम् ॥
अद्य कुरु तच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगान्महान् ।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति ॥

(महाभा० शान्ति० मोक्ष० अ० २७७। १३, १४)

कल का कार्य आज करलें, सायं का कार्य प्रातः करले । मृत्यु प्रतीक्षा नहीं करता है कि इसने अपना लक्ष्य पूरा किया या नहीं किया । उस श्रेयः–अध्यात्म लक्ष्य को आज ही पूरा कर या उधर आज ही चल पड, तुझे काल न लांघ जावे तेरे सामने आ खडा न हो । कौन जानता है कि आज किस का मृत्यु काल होगा ।

तथा—

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो-
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान् ॥

(वैराग्य शतक ७९)

जबतक शरीर स्वस्थ है रोगरहित है, जबतक बुढापा दूर है, जबतक इन्द्रियां-हाथ पांव आदि की शक्ति बनी हुई है, जब तक आयु है तब तक आत्मकल्याणार्थ विद्वान् जन को महान् प्रयत्न करना चाहिए ।

मानव श्रेयोमार्ग का अबलम्बन या कल्याण कर्म का अनुष्ठान भविष्य पर न छोडे क्योंकि भविष्य में जीवन रहे न रहे जीवन

रहा भी कहीं जरा-बुढापा न आदबावे, बुढापा न आया इन्द्रियों की विकलता हो जावे उन में कार्य-शक्ति न रहे, कार्यशक्ति रहते हुए भी रोग न आ घेरे। अतः, इन सब आपत्तियों विषमस्थितियों से पूर्व ही आत्मकल्याण की चिन्ता करनी चाहिए।

अभी मृत्यु दूर है ऐसा समझ अपने श्रेय लक्ष्य में ढील नहीं डालनी चाहिए कि फिर कभी करेंगे या फिर देखेंगे, क्योंकि आयु के दिन तो कम होते जाते ही हैं उन्हें पीछे लौटकर तो आना नहीं है।

कहा भी है—

स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव।
आयुरादाय मर्त्यानां रात्र्यहानि पुनः पुनः ॥

(महाभा० शान्ति० मोक्ष० अ० ३३२। ५)

दिन और रातें मनुष्य की आयु को पुनः पुनः लेकर निरन्तर ले लेकर चले जाते हैं लौटते नहीं हैं नदियों के स्रोतों प्रवाहों की भांति, जैसे नदियों के प्रवाह नहीं लौटते ऐसे दिन रातें भी नहीं लौटते हैं।

जीवन या शरीर तो अनित्य है ही पर ये कामभोग के पदार्थ भी तो अनित्य-नश्वर हैं और सदा साथ न देने वाले हैं।

कामभोग अस्थिर और नश्वर—

श्वोभावा मर्त्यस्य।

(कठो० १। १। २६)

यम के द्वारा दिए गए तीन वरों में तीसरा वर नचिकेता ने श्रेयोमार्ग एवं अध्यात्म का मांगा था जिस के सम्बन्ध में यम ने उसको न मांग, किन्तु उसके स्थान पर बहुमूल्य दुर्लभ काम-भोगों को मांगले प्रस्ताव रखा था, उस प्रस्ताव को नचिकेता ने ठुकराते हुए कहा कि यम ! ये काम-भोग तो 'श्वोभावाः' कल तक सत्ता-वाले—कल तक रह सकने वाले अर्थात् अनित्य नश्वर हैं। तथा "श्वो भावाः = श्वः-अभावाः" कल अभाव को प्राप्त होजाने वाले कलतक भी न रहसकने वाले–अस्थिर--कल तक भी रह सकेंगे इसमें कोई प्रमाण (गारण्टी) नहीं आज तक ही रह सकने वाले हैं रात्रि में ही नष्ट हो सकते हैं। एवं "मर्त्यस्य श्वोभावाः *" मनुष्य को कल फिर संसार में जन्म कराने वाले हैं। तथा "मर्त्यस्य श्वः-अभावाः" मनुष्य का कल ही अभाव करदेनेवाले हैं–भविष्य में अमरत्व से गिरादेने वाले–अमरत्व से दूर फेंकदेने वाले—अमर धाम और मोक्षधाम अमर सुख से वञ्चित करादेने वाले हैं अपितु अपने राग में फंसा अकाल मृत्यु के मुख में पहुँचाने वाले हैं, नष्ट होजाने पर हाय मैं मरा ध्वनि के साथ मृत्यु करादेने वाले अकाल मृत्यु के मुख में पहुँचादेने वाले तथा अधिक लाभ में अहो ! इतनी प्राप्ति के हर्ष में भी मृत्यु के यहां पहुंचाने वाले हैं संसार में अनेक जन अधिक प्राप्ति के हर्ष में भी यमसदन पहुँच जाते हैं उस प्राप्ति को न सहन करने से, यह तो है ही परन्तु "न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्" (कठो० १।२।१०) इन अध्रुव–अनित्य वस्तुओं से ध्रुव–नित्य

* श्वो भावयन्ति संसारे जनयन्तीति श्वोभावाः पुनर्जन्महेतवः।

परमात्मा या अमर धाम नहीं प्राप्त होसकता है। चरित्रहीनता की ओर भी ले जानेवाले मानवता के स्तर से गिराने वाले हैं। श्रेयोमार्ग या अध्यात्मसाधना में चरित्र या सदाचार भी अनिवार्य है।

चरित्रहीनता या दुश्चरित्र से परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती—

नाविरतो दुश्चरितात् प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।

(कठो० १ । २ । २४)

जो मनुष्य अविरत हैं भोग पदार्थों में काम भोगों में लिप्त है रागी है वह दुश्चरित ही होगा पुनः वह कितना भी बुद्धिमान् हो वह अपने बुद्धिबल से इस परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता अतः दुश्चरित से दूर होना और सुचरितवान् बनना अध्यात्म में अनिवार्य है यह धारणा बनाकर अध्यात्मसाधनार्थ अभ्यास की शरण लेनी चाहिए।

अभ्यास

अभ्यास दो प्रकार का है, एक व्रताभ्यास और दूसरा क्रियाभ्यास। प्रत्येक अभ्यास को दृढभूमि बनाना होता है।

और वह—

दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।

(योग० १ । १४)

बहुत समय तक—बहुत देर तक और बहुत काल तक, निरन्तरता, सत्कार के साथ सेवन किया हुआ अभ्यास दृढ़ भूमि—पक्की भूमिवाला बना करता है। सत्कार के सम्बन्ध में व्यास ने कहा है कि

"तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान् भवति" तप, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धा से सम्पादित अभ्यास सत्कारवाला यथावत् सेवन किया हुआ यथावत् फलवाला होता है। शरीर से तप—आयास, इन्द्रियों से ब्रह्मचर्य—संयम, मन को विद्या-ज्ञान से पूर्ण करते हुए और आत्मा में श्रद्धा–आस्तिकभावना के साथ अभ्यास का सेवन करना उसका सत्कार–सदनुष्ठान–सदाचरण है। शरीर, इन्द्रियों, मन और आत्मा को अभ्यास की साधना में यथोचित लगा देना चाहिए यह निष्कर्ष है।

अभ्यास (योगाभ्यास) को उपासना भी कहते हैं। उपासना (उप-आसना) का अर्थ पास बैठना है, पास बैठते हैं माता पिता के गुरु के और मित्र के। माता पिता के अधिकाधिक पास बैठते हैं जबकि उनके अनुरूप बन रहे होते हैं अन्यथा कुपुत्र समझ दायभाग से वञ्चित कर देते हैं। गुरु के अधिकाधिक पास बैठते हैं जबकि उसके अनुगुण हो रहे हों उसके सदाचरण और ज्ञान आदि गुणों को ग्रहण कर रहे हों अन्यथा विद्यालय से निकाल देता है। एवं मित्र के अधिकाधिक पास बैठते हैं जबकि उसके अनुशील हों वैसा शील स्वभाव धारण करें अन्यथा मित्रता तोड़ देता है। अध्यात्मक्षेत्र में पास बैठते हैं परमात्मा के, परमात्मा हमारी माता भी है हमारा पिता भी है गुरु भी और मित्र भी है*। उसके गुण धर्मशील स्वभाव

* त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
(ऋ० ८।९८।११)
परमात्मन्! तू ही हमारा पिता है तू ही माता है।

पवित्र हैं वह सद्गुणों का भण्डार है उस परम माता परम पिता परम गुरु परम मित्र परमात्मा के भी पास अधिकाधिक बैठने के लिये सद्गुण धारण करने होंगे ही। अतएव अभ्यास में प्रथम व्रताभ्यास सेवनीय है जोकि सद्गुणरूप है यम और नियम नाम से। महर्षि पतञ्जलि ने अष्टाङ्ग योगाभ्यास में इसी कारण वे प्रथम रखे हैं।

योगाभ्यास के आठ अङ्ग—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥ (योग० २। २९)

यम, नियम, आसन; प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। ये आठ अङ्ग हैं।

आसन से लेकर समाधिपर्यन्त अभ्यास क्रियाभ्यास है। व्रताभ्यास से परमात्मा के समीप आने पास बैठने का अधिकारी बनना होता है। जैसे सन्तान शिष्य और मित्र अपने माता पिता, गुरु और मित्र के समीप आने पास बैठने के लिये उनके गुणशीलों को धारण करके अधिकारी बनते हैं। परन्तु साथ में पास आने को

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्र वदत्युक्थ्यम्।
(यजु० ३४। ५७)
वेदज्ञान का स्वामी परमात्मा मन्त्र का प्रवचन करता है।
सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
(ऋ० १। ११। २।)
परमात्मन्! तेरी मित्रता में किसी से न डरें।

अपना स्थान भी तो छोड़ना पड़ता है। माता-पिता-गुरु-मित्ररूप परमात्मा के पास आने बैठने के लिये आत्मा का अपना जो स्थान है उसे छोड़ना होगा ही। आत्मा के स्थान हैं शरीर, प्राण, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार। इनके छोड़ने के लिये है आसन से लेकर असम्प्रज्ञात–निर्बीज समाधिपर्यन्त क्रियाभ्यास। शरीरस्थान को छोड़ने के लिये आसन है, क्योंकि शरीर के अङ्ग अङ्ग की चेष्टाओं को शिथिल कर अङ्गों को शून्य जैसा बना देना होता है मानो शरीर से छुटकारा सा मिल जाता है। प्राणों से सम्बन्ध हटाने के लिये प्राणायाम है क्योंकि प्राणों को रोक लेना उन पर अधिकार करना होता है इससे प्राणों से सम्बन्ध हटा जैसा होता है। प्रत्याहार से इन्द्रियों से सम्बन्ध हट जाता है क्योंकि प्रत्याहार कहते हैं इन्द्रियों का अपने विषयों की ओर न चलकर मन के स्वरूप का अनुकरण करना। धारणाद्वारा मन से सम्बन्ध हट जाता है क्योंकि धारणा कहते हैं मन को किसी स्थान में रख देना। ध्यान से बुद्धि का सम्बन्ध छूट जाता है क्योंकि वस्तु की एक रस प्रतीति में बुद्धि स्थिर होजाती है। एकाग्र समाधि से चित्त से पीछा छूटता है क्योंकि एकाग्र समाधि से चित्त का स्मरण कार्य बन्द होजाता है। निरोध समाधि या असम्प्रज्ञात समाधि में अहङ्कार अपने अहम्भाव–मैं और ममभाव–मेरेपन से पृथक् होजाता है अतः अहङ्कार स्थान को आत्मा छोड़ देता है। इस प्रकार व्रताभ्यास तो परमात्मा के पास बैठने का अधिकारी बनने के लिये हैं और आसन से असम्प्रज्ञात समाधि पर्यन्त क्रियाभ्यास है आत्मा का वर्तमान स्थान छोड़ने के लिये। अधिकारी

या पात्र बन जाने और निजस्थान छोड़ देने पर परमात्मा के पास बैठ जाना या उपासना अनिवार्य है।

यम नियम व्रताभ्यासरूप सद्गुणों को धारण करना परमात्मा की उपासना का प्रथम अङ्ग है। अब उनका विभागशः संक्षिप्त विवरण करते हैं।

यम—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

(योग० २। ३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं।

अहिंसा—हिंसा अर्थात् पीडा न देना अहिंसा है। शरीर; वाणी, मन, आत्मा से पीडा न पहुंचाना। शरीर से पीडा पहुंचाना अर्थात् हाथ लात दण्ड आदि साधन से प्रहार करना कर्मणा हिंसा है। वाणी से पीडा पहुंचाना वाणी से कटु कठोर कुवचन बोलकर पीडा पहुंचाना वाचा हिंसा है क्योंकि "शस्त्र का घाव तो कभी न कभी जाता है भरा। पर वाणी का घाव सदा रहता है हरा।" बाणों से बिन्धा जङ्गल और कुठार से कटा वृक्ष फिर हरा भरा हो सकता है परन्तु वाणी से लगा घाव नहीं भरता, बाणी के वाण मुख से निकल मर्म स्थलों में गिरते हैं। जिन से आहत हुआ मानव दिन रात शोक करता है अतः विद्वान् को वाणी के वाण छोडने नहीं चाहिए *। मन से दूसरे का अहितचिन्तन करना उनके प्रति वैर

* रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहते वाक्क्षतम्॥

रखना मनसा हिंसा है जो आगे वाणी और शरीर से पीडा पहुंचाने का कारण बनता है। आत्मा से किसी के प्रति मित्रभाव न रखकर* अनादर भावना और ईर्ष्या रखना आत्मना हिंसा है। इन चारों की हिंसा से अभ्यासी या उपासक को बचना चाहिए। जब प्राणियों के प्रति स्नेह न होगा तो परमात्मा के प्रति स्नेह कैसे हो सकता है? नहीं होसकता, स्नेह से ही तो कोई किसी से चिपकता या चिपटता है। इस प्रकार अहिंसा के रूप चार हुए कर्मणा अहिंसा; वाचा अहिंसा, मनसा अहिंसा, और आत्मना अहिंसा। इनको ज़ीवन में ढालने या आचरण में लाने के लिये सप्ताह सप्ताह भर या मास मास का कार्यक्रम इन्हें पक्का करने को बनाना चाहिए, प्रातः सायं सोते समय और भोजन के समय विचारना चाहिए मैं ऐसी कोई हिंसा तो नहीं कर रहा हूं मेरा व्रत तो इस सप्ताह कर्मणा अहिंसा शरीर से हिंसा न करने का है इत्यादि।

सत्य—वस्तु जैसी देखी वैसी उसे कहना बोलना। जैसा कोई पदार्थ समस्त इन्द्रियों से साक्षात् किया वैसा उसे वाणी से और लेख से प्रदर्शित करना। जैसे कोई वस्तु इन्द्रियों से और मन से अर्थात् अनुमान और विद्या से जानी गई वैसे उसे वाणी

वाक्सायका वदान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्रयहानि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः॥

*"मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे"

(यजु० ३६। १८)

मैं मित्र की दृष्टि से मित्र जैसे देखता है ऐसे सब प्राणियों को देखूं।

आदि से प्रकट करना मन से मानना मन वाणी को वस्तु के अनुसार बनाना जैसा मन में वैसा वाणी में जैसा वाणी में वैसा मन में मनवाणी का एक बनाना। आत्मामें अत्यन्त सरलता को लाना सरल रूप सत्य को अपनाना उपहास या विनोद के लिये भी असरलता को न अपनाना "तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽ वति हन्त्यासत्"। जो सत्य है वह अति सरल है उसको सोम सच्चा जन अपने पास रखता है असत्य को नष्ट करता है परमात्मा सत्यस्वरूप है "सत्यश्चित्रः श्रवस्तमः" (ऋ० १। १। ४) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" जीवन में सत्य का आचरण सरलता का आचरण हुए विना परमात्मा का सत्सङ्ग नहीं हो सकता क्योंकि परमात्मा भी सरल है इन चारों को भी जीवन में ढालने आचरण में लाने के लिये एक एक सप्ताह आदि का व्रत लेकर प्रातः सायं सोते समय और भोजन के समय विचारना चाहिए।

अस्तेय—स्तेय अर्थात् जिस पर अपना अधिकार नहीं उसको स्वामी के पीछे या उसके सोते समय अपहरण करना या जागते हुए बलात् छीनलेना लूट लेना। स्वामी के सम्मुख उसकी अनुमति के विना वस्तु का सेवन। वस्तु के स्वामी से बिना परिश्रम प्रतीकार के उसकी वस्तु को लेने के लिये स्पृहा रखना। अपनी वस्तु में भी राग रख कर भोगना दूसरे के हित में किञ्चित् भी न देना या सर्वथा कृपणता न अपने लिये न दूसरे के लिये उपयोग में लाना स्तेय है ऐसा न करना अस्तेय है वेद में "त्यक्तेन भुञ्जीथाः" (यजु० ४० । १) त्याग से भोगने का विधान है। स्तेय पाप-

पूर्ण मानसपात्र में परमात्मसत्सङ्ग का प्रसाद प्राप्त नहीं होसकता इनको भी सप्ताह सप्ताह आदि के क्रम से जीवन में ढालना।

ब्रह्मचर्य—व्यभिचार त्याग+ (परपुरुषगमन परस्त्रीगमन और अनृतुगमन का त्याग)। मैथुनत्याग (स्त्रियों के इच्छापूर्वक दर्शन स्पर्शन आदि आठ प्रकार के मैथुनों का त्याग *), गुप्तेन्द्रिय विकार त्याग। मनोविकार त्याग। इन में उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। इन का भी आचरण करने के लिये यथोचित समय क्रम बनावे। ब्रह्मचर्य जीवन का सत्य एक स्नेह है स्नेह से ही ज्योति जगमगाती है। जिस के जीवन में ब्रह्मचर्य सत्य स्नेह नहीं वहां परमात्मा की ज्योति जागृत नहीं होसकती।

अपरिग्रह—'परितो ग्रहणं परिग्रहः, सब ओर से ग्रहण अर्थात् धर्म-अधर्म, उपादेय-अनुपादेय, अधिकार-अनधिकार हित-अहित,

---

+रसाद्रक्त ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जातः शुक्रसम्भवः॥

भोजन का सहस्रांश रस बनता है, रस से रक्त सहस्रांश उससे सहस्रांश मांस, मांससे सहस्रांस मेद, मेद का सहस्रांश हड्डी, हड्डी का सहस्रांश मज्जा (चर्बी), चर्बी का सहस्रांश शुक्र—वीर्य ब्रह्मचर्य बनता है ऐसे अमूल्य शरीर धातु की रक्षा करना परम आवश्यक है।

* स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मिथुनं अष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्।"

आवश्यकता-अनावश्यकता का विचार न करके वस्तु का स्वीकार या उपार्जन परिग्रह है जोकि भोग्यपदार्थों के साधनों का संग्रह अन्नफलों के लिये जहां तहां खेत उद्यानों की अधिकता दूध मक्खन के लिये गोशाला भैंसशालाओं को स्वायत करना वस्त्रों के लिये मिल कारखानों का स्वामी बनना आदि। खाद्यपदार्थों एवं भोग्य पदार्थों का संग्रह, वस्त्रों की अधिकता अमर्यादित दूध घृत का रखना। गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द विषयों का व्यसनी होना। इच्छा वासना की अधिकता। यह सब परिग्रह अनुचित है ऐसा न करना अपरिग्रह है अर्थात् मर्यादित भोग्यपदार्थों के साधन आवश्यकता-अनुसार (भोग्य पदार्थों का उपार्जन। निर्वाहमात्र व्यसनरहित वस्तु सेवन। वासना से रहित इच्छा। निःस्पृह या निरिच्छ होना*। चार प्रकार का परिग्रह क्या है आत्मा को घेरे हुए चारों ओर भित्तियां हैं। इनसे रहित होना उत्तरोत्तर उत्कृष्ट अपरिग्रह है। सर्वोत्कृष्ट अपरिग्रह में मानव केवल रूप में होजाता है "केवलः केवलं प्राप्नोतीति न्यायः" केवल होकर केवल परमात्मा को प्राप्त होजाता है।

ये अभ्यासी के व्रत हैं और ये ही महाव्रत हैं जबकि परमात्मा को प्राप्त करता है जाति, देश, काल और अवसर के प्रतिबन्ध से रहित सेवन किए जारहे हैं× ये सद्व्रत वेद की भाषा में शिवसङ्कल्प कहाते हैं जिन के लिये वेद में मानव की आकांक्षा है "तन्मे मनः

---

*"मा गृधः" (यजु० ४० । १)

× जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। (योग० २ । ३१)

शिवसङ्कल्पमस्तु" (यजु० ३४।१) मेरा मन शिवसङ्कल्पवाला हो। शिव सङ्कल्प कल्याण का सङ्कल्प एवं पुण्य का सङ्कल्प कहलाता है जैसे जो कि मनुष्यों में परस्पर शान्ति की स्थापना करता है, प्रत्येक मनुष्य यह चाहता है और अपना अधिकार समझता है कि मुझे कोई पीडा न पहुंचावे मेरी हिंसा न करे, मुझ से असत्य व्यवहार न करे सत्य व्यवहार करे, मेरी वस्तु न चुरावे, मुझे एवं मेरे सम्बन्धियों को संयम सदाचार से न गिरावे, निर्वाहार्थ आवश्यक पदार्थ मुझे मिलते रहें। तब उसको भी अपने जैसी इच्छा एवं अधिकार दूसरे के लिये सुरक्षित रखने को वैसा ही कर्तव्य पालन करना चाहिए अहिंसा आदिका आचरण करना चाहिए।

किन्तु—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अपने लिये जो प्रतिकूल बातें हैं उन्हें तो दूसरों के प्रति आचरण में लाना चाहिए ही नहीं अनुकूल आचरण का पुण्य नहीं मिले तो न मिले परन्तु प्रतिकूल का पाप तो न मिले।

इस प्रकार ये अहिंसा आदि व्रत परमात्मा का सत्सङ्ग कराने वाले होते हुए भी संसार में मानवों में पस्पर शान्ति की स्थापना करानेवाले हैं।

सद्व्रतों के साधने के लिये सदा सावधान रहना चाहिए—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥

(मनु० २ । ८८)

अनुचित कार्यों या दुश्चरितों या गिरानेवाले विषयों में जाती हुई इन्द्रियों के समय में—नियन्त्रण में यत्न करना चाहिए घोड़ों के विद्वान् नियन्ता नियन्त्रणकर्ता सारथि की भांति ! जैसे विद्वान् सारथि घोड़ों को अमार्ग या कुमार्ग में न जाने देने के लिये यत्न करता है ऐसे ही समझदार मनुष्य अमार्ग या अनुचित विषयों में इन्द्रियों को न जाने देने के लिये यत्न करे ।

इन्द्रियों को जीतनेवाला या स्वाधीन करनेवाला जन—

हिताशी स्यान्मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः ।

जितेन्द्रिय जन या जो जितेन्द्रिय होना चाहे वह हिताशी–हित-भोजी–हितकर अर्थात् स्वास्थ्य कर नीरोग रखनेवाले और शान्ति-दायक भोजन को सेवन करे स्वाद को लक्ष्य करके नहीं किन्तु स्वास्थ्य को लक्ष्य कर भोजन करे मिताशी–मितभोजी–मपा हुआ न कम न अधिक भोजन करे किन्तु आवश्यकतानुसार भोजन करे जिसका सुपाक होकर सुखदायक बने शरीर मन और आत्मा में बलप्रदान करे शिथिलता और प्रमाद न करे अपितु उन्हें हटावे अधिक भोजन से आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण और विष्टब्धाजीर्ण रोग हो जाते हैं कालभोजी–समय पर खानेवाला दिनचर्या में निश्चित

समय पर—शास्त्रों में प्रतिपादित और शिष्टों के द्वारा निर्धारित समय पर और भूख लगने पर खावे। तभी मनुष्य जितेन्द्रिय रह सकता है और इन्द्रियों को स्वाधीन रख सन्मार्ग में चला सकता है।

अष्टाङ्ग योग में दूसरा स्थान है नियमों का। यम तो वे व्रत थे जिनका आचरण क्षेत्र अन्यों के साथ सम्बन्ध रखता है परन्तु नियम वह व्रताभ्यास है जो अपने ऊपर ही घटित होता है अतएव नियम–निहित यम अन्तर्हित यम अर्थात् अपने ही अन्दर धारण करने योग्य अपने तक रहनेवाले व्रत हैं जोकि उपव्रत हैं।

नियम—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥

(योग० २। ३२)

शौच—शरीर वस्त्र आहार और स्थान की जलादिसे शुद्धि। शुद्धि से मन में सात्त्विकता और प्रसन्नता होगी जो मन को स्थिर करने में सहायक है।

सन्तोष—कार्य करते रहना फल पर सन्तोष रखना एवं जो फल या साधन है उसी पर निर्वाह करना। सन्तुष्ट हुए जन का चित्त ही स्थिर होता है।

तपः—शरीर के जिस व्यवहार का प्रवाह या फल बाहिर हो उसका श्रम या कर्म नाम है परन्तु जिसका प्रवाह या फल अन्दर चित्त में हो चित्त का प्रसादकारक चित्त को निर्मल और स्थिर शान्त करने

वाला ऊंचे उद्देश्य ध्यानानुष्ठान में आए कठिनाई को सहन करना तथा अध्यात्म साधना के लिये शरीर इन्द्रियों को सहन शक्तियुक्त बनाना तप है अन्यथा निरुद्देश्य सेवन करना तो तप नहीं किन्तु ताप सन्ताप ही है वह त्याज्य ही है।

स्वाध्याय—चित्त का वह चिन्तन कार्य जिसका प्रवाह या फल बाहिर हो वह अध्याय–अध्ययन है परन्तु जिसका प्रवाह या फल अन्दर आत्मा में हो वह स्वाध्याय (स्व–अध्याय) अपना अध्ययन या अपने लिये अध्ययन स्वाध्याय है जो मोक्षशास्त्रों का पढ़ना पढाना सुनना सुनाना और चिन्तन करना।

ईश्वरप्रणिधान—आत्मा का वह व्यवहार जिसका प्रवाह या फल बाहिर हो वह भोग है परन्तु जिसका प्रवाह या फल अन्दर ईश्वर में हो ईश्वरप्रणिधान है अर्थात् अध्यात्मसाधनार्थ एवं उपासनार्थ अपने क्रियाकलाप को परमगुरु ईश्वर के अर्पित रखना उससे विपरीत या विमुख करा देने वाले कार्य को त्यागकर उसकी ओर प्रवृत्तिके हेतु कर्म करना सब प्रकार ईश्वर के अन्दर अपने को समर्पित कर देना ऐसा जैसा कि व्यासभाष्य में कहा है—

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा,
स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः ।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः,
स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी ॥

शय्या विस्तर पर लेटा हो आसन पर बैठा है या मार्ग में चल

रहा हो वहिर्मुख चिन्तन से रहित स्वस्थ हुआ संसार के बीजरूप वासना के क्षय को चाहता हुआ नित्ययुक्त अमृतभोग का भागी कहलाता हैं।

इन पांचों नियमों के सेवन करने से शरीर, मन, और आत्मा स्वस्थ होकर मानव अध्यात्म में प्रवेशार्थ योग्य-योग्यतासम्पन्न बन जाता है।

मध्यम स्थली

अभ्यास से पूर्व वैराग्य का स्थान है यह प्रथमस्थली के प्रारम्भ में कह आए हैं अतएव वहां प्रथम वैराग्य का वर्णन किया गया और पश्चात् अभ्यास को दर्शाया था। उसी प्रकार इस मध्यम स्थली में भी प्रथम वैराग्य का निरूपण करते हैं पुनः अभ्यास का विषय प्रस्तुत किया जायगा।

वैराग्य

भोगपदार्थ नश्वर एवं अस्थिर इनके पीछे पड़ने से मानव की तृप्ति और शान्ति नहीं होती अपितु ये आकुलता और अशान्ति का ग्रास बना देते हैं। यह प्रथम स्थली में सामान्यरूप से कहा गया है। अब इन कामभोगों या भोगपदार्थों के साधन पदार्थों धन, शरीर, संसार और सम्बन्धिजनों को लक्ष्य कर वैराग्य प्रदर्शित करते हैं।

धन की स्थिति—

चान्दी, सोना और हीरे आदि रत्न प्रधानरूप से धन कहलाते हैं। ये केवल आयुर्वेदिक उपयोग या चिकित्सा की दृष्टि से इनकी

भस्म आदि बना कर या भूषार्थ* उपयोग के अतिरिक्त इनसे कोई भोगसिद्धि नहीं होतीहै जीवननिर्वाह केलिये इनका कोई महत्व नहीं। किसी देश में एक स्थान पर खोदते हुए एक बादशाह की कबर निकली वहां एक पत्थर निकला जिस पर लिखा था कि मेरे राज्य में दुर्भिक्ष पड़ा अन्न के अभाव से प्रजाजन मरने लगे मैंने चान्दी के बढ़िया सिक्के निकाल कर दिए जिस भाव भी अन्न मिले ले आओ लोग रिक्तहस्त आए कहीं अन्न न मिला मैंने वे सिक्के नदी में फिकवा दिए, फिर जब राज्य कर्मचारी मरने लगे तो सोने के बढ़िया सिक्के कोष से निकाल कर दिए जिस भाव भी अन्न मिले ले आओ परन्तु अन्न न मिला वे भी नदी में फिकवा दिए पुनः जब राजपरिवार के लोग मरने लगे तो मैंने हीरे जवाहरात निकाल कर दिए तब भी अन्न न मिला विना अन्न के मेरा परिवार मर गया मैं भी मर रहा हूं और मर जाऊंगा। जो लोग धन को ही बड़ा महत्त्व देते हैं उनकी मेरे समान मृत्यु हो।

और फिर—

धनं वा पुरुषो राजन् पुरुषं वा पुनर्धनम्।
अवश्यं प्रजहात्येव तद्विदां कोऽनुसंज्वरेत्॥

(महाभा० शान्ति० राजधर्म० अ० १०४।४५)

---

* "सोने चान्दी माणिक मोती मूंगे आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण करने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित नहीं होता किन्तु देहाभिमान, विषयासक्ति और चोर आदि का भय मृत्यु तक का सम्भव है" (सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ३ स्वामी दयानन्द) अतः भूषा भी मानव का विशेष हित नहीं साधती है।

संसार में देखा जाता है या तो धन मनुष्य को छोड़ देता है व्यय होकर नष्ट होकर चुर जाने लुट जाने पर या मनुष्य ही धन को अवश्य छोड़कर चला जाता है ऐसा जानने वाले विद्वानों में कौन इसके पीछे अपने को दुःखी करे।

चाहे मानव अज्ञानवश या रागवश इसे छोड़ना नहीं चाहता पर छोड़ना पड़ता है, साथ ले जाने को नहीं बनता अन्यथा साथ ले जाता। एक जन ने साथ ले जाने का यत्न किया उसके पास पचास स्वर्ण मुद्राएं (मुहरें) थी वर्तमान की घटना है अतएव चार सहस्र रुपयों की थीं वह अकेला था रोगी था पड़ोस का गृहस्थ दयावश भोजन पहुंचा देता था एक दिन उसने हलवा खाने की इच्छा प्रकट की, गृहस्थ ने हलवा भिजवा दिया। अगले दिन जब प्रातः दूध आदि प्रातराश भिजवाया तो वह न बोला न हिला गृहस्थ ने आकर देखा कि वह मर चुका था अन्य जनों को बुलाकर श्मशान ले जाकर अन्त्येष्टि (दाहकर्म) कर दिया। पर लौटने पर कुछ जनों ने उस सद्गृहस्थ को उपालम्भ दिया कि उसका धन लेने को सेवा करते थे धन उसका ले लिया उसकी खाट के नीचे खड्डा खुदा हुआ है। सद्गृहस्थ दुःखी हुआ और तेरी सेवा करी मरकर मुझे कलङ्कित कर गया चल तेरी चिता पर रो ही लूं श्मशान जाकर देखा अग्नि कुछ शान्त हो रहा था अस्थिपञ्जर में पचास स्वर्ण मुद्राएं अग्निताप से लाल बनी चमचमा रही थी अन्य लोगों को वह दृश्य दिखाया समझ में आ गया हलवा खाने को नहीं मंगाया था स्वर्णमुद्राएं साथ ले जाने को मंगाया था हल्वे के एक

एक ग्रास में एक एक मुद्रा निगल गया था। यह धन के राग की घटना है धन रहा यहीं पर ही। आत्मा राग में रक्त होकर चला गया अपने भावी को न बनाकर बिगाड़ लिया।

धन आने जाने वाला है—

ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुपतिष्ठन्ते रायः।
(ऋ० १०। ११७। ५)

रायः—सम्पत्तियां रथचक्र—गाड़ी के पहिए की भांति आवर्तन करती रहती हैं एक स्थान पर नहीं ठहरती किन्तु अन्य अन्य के पास—एक दूसरे के पास आती जाती रहती है।

समस्त संग्रह नष्ट होने वाले हैं ही—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा वियोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥
(वाल्मीकिरा० अयो० १०५। १६)

सारे गाढ़े हुए कोष खजाने क्षीण हो जाने वाले है, ऊंचे ढेर या टीले भी गिर जानेवाले हैं, संयोगों का वियोग होगा और जीवन का अन्त मरण है।

पुनः—

मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।
(यजु० ४०। १)

अपनी आकांक्षा—लालसा को मत बढ़ा क्योंकि सोच धन किस का है अर्थात् किसी का नहीं।

पृथिवी पर धन सम्पत्ति को अपनाते अपनाते बड़े बड़े राजे महाराजे

सम्राट् चल बसे पर ये किसी के अपनाए नहीं गए साथ नहीं गए। कहा जाता है सिकन्दर ने सारे जीवन को धन सम्पत्ति के संग्रह में लगाया गमाया परन्तु एक पैसा भी उसके साथ नहीं गया। वह अन्त समय में पछताया रोया परन्तु अब क्या हो सकता है उसने सोचा तेरा जीवन तो इसके पीछे गया सो गया किन्तु औरों को शिक्षा मिल जावे कुछ ऐसा करो। यह सोच उसने अपने अनुचरों को कहा कि जब मेरा शव (मृत देह) दबाने को ले जाओ तो कफन से बाहिर दोनों हाथ खुली हथेली ले जाना, जिससे लोग समझ जाएं कि धन साथ नहीं जाता सिकन्दर भी खाली हाथ गया—

छोड़ दुर्ग रण कोष सभी कुछ रिक्तहस्त है जाता।
चला सिकन्दर कफन से बाहिर दोनों हाथ दिखाता॥

मरते के पश्चात् धन तो दूसरे ही भोगते हैं—

अन्यो धनं प्रेतस्य भुंक्ते वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून।
द्वाभ्यां सह गच्छत्यमुत्र पुण्येन पापेन च वेध्यमानः॥

(महाभा० उद्योग० प्रजा० अ० ४० । १६)

मृतक का धन दूसरा कोई भोगता है शरीरधातुओं को गिद्ध चील कव्वे और अग्नि समाप्त कर देते हैं, पुण्य और पाप से युक्त हो पुनर्जन्म में चला जाता है।

अतः—

यशो भगस्य विन्दतु।

(साम पू० ६। ३। १३। १०)

मनुष्य धन से लिप्त न हो किन्तु धन को सत्यकार्य में लगाकर दान देकर यश प्राप्त करले।

क्योंकि—

दानं भोगो नाशश्च तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।

दान करना स्वयं भोग लेना और नाश हो जाना ये तीन गतियां धन की होती हैं।

पुनः—

यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ।

जो न दान देता है और न भोगता है उसकी तीसरी गति होती है अर्थात् नाश होजाता है अन्य जनों चोरों राजकरों पुत्रों द्वारा भी अन्यथा व्यय या दुर्व्यसनों में।

कहा भी है—

राजतः सलीलादग्नेश्चौरतो भयं स्वजनादपि ।
नित्यमर्थवतां मृत्योः प्राणभृतामिव ॥

धनवालों को राजा से भय कभी राजकर्मचारी छापा न मार ले, जल से भय जल में बाढ में न बह जावे गल न जावे, अग्नि से भय जल न जावे, चोर से भय चोर और डाकू से भय चुरा न ले लूट न ले, अपने ही जन से भय कहीं अपना वह व्यक्ति ही धोखा न दे जावे, ये भयस्थान हैं इन से ऐसा भय रहता है जैसा किसी प्राणी को मृत्यु से भय होता हो अतः धन में राग या लोभ न रखे।

लोभ हानिकर है—

लोभो व्याधिरनन्तकः ।

(महाभा० व० आरण्य अ० ३ । १३)

लोभ न जानेवाला महा रोग है ।

लोभः पापस्य कारणम् ।

लोभ विविध पाप का कारण है ।

लोभ पापस्य बीजोऽयम् ।

(महाभारत)

लोभ पाप का बीज है ।

जैसा कि—

भोज के पिता का जब देहान्त होने लगा तो भोज पांच वर्ष का था, भोज के पिता ने मरते समय अपने छोटे भाई मुञ्ज को कहा कि भोज बालक तुम्हारे सुपुर्द है इसे अपना समझकर पालना । जब भोज बारह वर्ष का हुआ तो उसके चाचा मुञ्ज के मन में लोभ आया कि यह राज्य अभी तो मेरे हाथ में है मेरा सदा बना रहे कुछ ऐसा करना चाहिए कुछ दिनों में राज्य का स्वामी भोज बन जावेगा अतः इस बालक को मरवा दिया जावे यह कण्टक मिटा दिया जावे ऐसा सोच कर एक शस्त्रधारी प्रहरी को बुला कर कहा कि भोज को कहीं एकान्त जङ्गल में लेजाकर इसका शिर काट कर मेरे पास ले आओ । प्रहरी भोज बालक को जङ्गल में लेगया, भोज ने उसे पूछा मुझे यहां क्यों लाया है तो प्रहरी ने कहा तुम्हारे चाचा ने तुम्हारा शिर कटवाकर मंगाया है बालक भोज ने

कहा अच्छा तुम मेरे चाचा के नौकर हो उनके आदेश से मेरा शिर काट लो। प्रहरी ने पूछा तुम्हारी अन्तिम इच्छा क्या है भोज ने दो बड़े पत्ते मंगवाए और अपना रक्त निकाल कर जंगल के काण्टे से एक पत्ते पर कुछ लिख दूसरा पत्ता उसपर सम्पुट कर प्रहरी को दे कर कहा कि मेरे शिर के साथ इसे भी मेरे चाचा को देदेना और कह देना कि जब समय मिले इसे खोलकर देखलें। प्रहरी ने भोज का शिर काटने को तलवार ऊपर उठाई तुरन्त विचार आया कि किस निरपराध बालक का शिर काटने को तैयार हो रहा है सम्भल, अरे! जिसके पिता का अन्न खाकर तेरा और तेरे परिवार का शरीर पला है उसका अन्न तेरे अङ्ग अङ्ग में बसा है, ऐसा सोचते ही तलवार हाथ से छूट गई और बालक भोज का शिर न काट कर उसे गुह्य भूतल घर में सुरक्षित रखा और भोज का रक्तमय कृत्रिम (बनावटी) शिर किसी शिल्पी से बनवाकर मुञ्ज को सोंप दिया, मुञ्ज बहुत प्रसन्न हो बोला तुम ने मेरा कण्टक मिटा दिया विनोद से पूछ बैठा कि उस मेरे भतीजे ने शिर काटने से पूर्व कोई अन्तिम इच्छा भी प्रकट की थी? तो प्रहरी सम्पुट पत्ता दे कर बोला कि यह आपके लिये दिया था और समय मिलने पर खोल कर देख लेने को कहा था मुञ्ज ने तुरन्त उसे लेते ही खोल कर देखा तो उसमें लिखा था—

मान्धाता च महीपतिः कृतयुगेऽलङ्कारभूतो गतः।
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः॥

अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते।
नैकेनापि समं गता वसुमती नूनं त्वया यास्यति॥
(भोज प्रबन्ध)

मान्धाता नाम के प्रतापी सम्राट् सत्य युग में हुए पर वह भी चल बसे, समुद्र पर पुल बान्धने वाले तथा रावण का अन्त करने वाले शक्तिमान् राम भी पृथिवी पर कहां हैं अर्थात् नहीं है, अन्य युधिष्ठिर आदि चक्रवर्ती राजे भी मृत्युलोक में चले गए पृथिवी से विदा होगए परन्तु इन में से किसी के भी साथ यह पृथिवी नहीं गई ऐसा लगता है मेरे चाचा यह तेरे साथ जावेगी।

बस यह पढना था कि अन्तरात्मा में वैराग्य की लहर दौड गई पश्चात्ताप का पारावार न रहा, अपने पाप कृत्य पर पश्चात्ताप के साथ महान् दुःखसागर में डूब कर मूर्च्छित होगया अनेक ठण्डे उपचारों से सचेत हो जाने पर हाय भोज ! हाय भोज !! हाय मुझ पापी ने क्या किया ? इत्यादि निरन्तर बिलाप करते हुए व्याकुलित मुञ्ज को देख प्रहरी आदि ने समझ लिया कि मुञ्ज पाप पर भारी पश्चात्ताप कर रहा है। अब भोज के लिये भय का अवसर नहीं रहा। तुरन्त किसी बहुरूपिया को तैयार किया बहुरूपिया ऊंची ध्वनि से राजदरबार के द्वार पर कहने लगा "मैं मरे हुए को जीवित कर देता हूं टूटे कटे शिर आदि अङ्गों को जोड देता हूं" मुञ्ज ने सुन उसे बुलवा कर कहा कि यह शिर मेरे भतीजे का है उसे उसके धडके साथ जोड उसे जीवित करदो जो मांगोगे सो दूंगा। भोज तो जीवित था ही कृत्रिम शिर लेकर चला गया और भोज को लाकर

मुञ्ज के सम्मुख खडा कर दिया फिर क्या कहना मुञ्ज ने भोज को छाती से लगा लिया राज्य उसे सौंप कर वानप्रस्थ ले बन में चला गया।

शरीर की स्थिति—

योगदर्शन के व्यासभाष्य में शरीर के सम्बन्ध में कहा है कि—

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥

(योगदर्शन० २। ५। व्यास)

शरीर का उत्पत्तिस्थान मलिन योनिस्थान मूत्रस्थान, बीज इसका वीर्य भी पुरुष के मूत्रेन्द्रिय में होता है, उपष्टम्भ–मांस आदि का भण्डार, निःस्यन्द-नेत्र नासिका मुखादि के गीले मलों के होने से, निधन-मुर्दाबन जाने से यह देह शौच-शोधन आधान करने योग्य सदा शोधने योग्य होने से विद्वान् इसे अपवित्र कहते हैं।

बृहद्रथ राजा ने पुत्र को राज्य सोंपकर वन में शाकान्य मुनि के पास जाकर अपने वैराग्य को दर्शाते हुए कहा—

भगवन् ! अस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणित-श्लेष्माश्रुदूषिकाविण्मूत्रवातपित्तकफसंघाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिञ्छरीरे किं कामोपभोगैः।

(मैत्र्यु० १। ३)

महात्मन् ! हड्डी चाम तान्त चर्बी मांस वीर्य रज रक्त सिनक

आंसु ढीड मलमूत्र वातपित्तकफ वस्तुओं के ढेर या पिण्ड दुर्गन्ध निःसार इस शरीर में कामभोगों विषयभोगों से क्या कुछ नहीं कुछ लाभ या कुछ सुख नहीं है।

अस्थिस्थूणास्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धपूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यज ॥
(महाभारत)

हड्डी पृष्ठ वंश नाड़ियों से युक्त मांस रक्त से लतपत चमड़ी से ढके हुए मलमूत्र से पूर्ण शोक और जरा से युक्त रोगों के घर रोगी रहनेवाले दुःखी मलिन अनित्य तथा पृथिवी आदि भूतों के आवास देह को त्याग अध्यात्म का अनुष्ठान कर मोक्ष को प्राप्त कर।

शरीर का यह दृश्य विचारणीय है यह ऐसा ही जैसे किसी चीनी मिट्टी या रबड़ के मनुष्याकार बने पुतले में यथास्थान उक्त मलमूत्र भर दिए गए हों ऊपर वह कितना भी चिकना सुन्दर रंग-वाला हो परन्तु उसे कोई प्यार न करेगा, हां जीवित मनुष्यशरीर को प्यार करते हैं यह महदाश्चर्य है विचार कीजिए सुन्दरता क्या है यदि गोरा रंग सुन्दरता है गोरा होते हुए भी मुखनाक मलिन हो तो सुन्दर नहीं लगेगा। मुख निर्मल होने पर भी ऊपर फोड़ा पीप-वाला हो, तो सुन्दर नहीं, मुख पर घाव हो मांस लाल दीखता हो तो भी सुन्दर नहीं गोरा होते हुए नाक आंख का आकार टेढ़ा मेढ़ा हो तो भी सुन्दर नहीं। तब सुन्दरता क्या है मांस सुन्दर नहीं हड्डी

सुन्दर नहीं नाक आंख सुन्दर नहीं फिर सुन्दरता क्या है कलाविशेष ही सुन्दर है जो कि ईश्वर की रचना है पतली सी झिल्ली जो हड्डी मांस पर चढ़ी है उसमें सुन्दरता ईश्वर ने रखी है जिसमें सब हड्डी मांस कफ आदि मल माल ढका हुआ है। ऐसे में सुखभोग की कामना करना ऐसा ही जैसे मलमूत्र कफ से भरे कमरे में पड़े एक लड्डू के लोभ में उस के अन्दर घुसे या धसे। अस्तु। अब शरीर का दूसरा पार्श्व देखें।

शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संवृद्धचुपेतं निरयेऽथ मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणावनद्धं विण्मूत्रपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्चामयैर्बहुभिः परिपूर्णः कोश इव वसुना इति ॥

(मैत्र्यु० ३।४)

यह शरीर मैथुन—स्त्रीपुरुष के रजवीर्य से अंकुरसमान उभर कर नरक जैसे गुप्त स्थान या बन्द अन्धेर कोठे में बढ़ा फिर मूत्रद्वार से बाहिर निकला हड्डियों से खड़ा किया हुआ मांस से लिपा–भरा हुआ चमड़ी से ढका हुआ मलमूत्र पित्त कफ मज्जा मेद वसा चिकनाई से और अन्य बहुतेरे रोगों से परिपूर्ण ऐसा है जैसे कोई कोठार भण्डार भांति भांति के धन अन्न वर्तन आदि से भरा हुआ हो।

यह स्थिति पूर्व की अपेक्षा भिन्न है और ऐसी है कि जैसे कोई मलमूत्र कफ से सने कमरे में बैठे हुए लड्डू या हलवा खाने की

सोच रहा हो हलवे के स्वाद का लोभ इतने मलपूर्ण स्थान में करना आश्चर्य एवं धोखा है।

पुनः—

कामक्रोधलोभमोहभयविषादेर्ष्येष्टवियोगानिष्टसम्प्रयोगक्षुत्पिपासाजरामृत्युरोगशोकाद्यैरभिहतेऽस्मिञ्छरीरे किं कामोपभोगैः " (मैत्र्यु० १। ३)

काम, क्रोध, लोभ, मोह, खेद, ईर्ष्या, इष्टवियोग, अनिष्टप्रयोग अनिष्ट प्राप्ति, भूख, प्यास, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, आदि से ताडित क्षतविक्षत हुए उस शरीर में विषयभोगों से क्या लाभ ?

विषयभोग के लिये इन सब का प्रहार झेलना पडता है इन के प्रहार से देह घावों से भरपूर हो जाता है। इनकी मार सहनी पडती है। इनमें एक एक अकेले की ही मार ऐसी है कि मनुष्य को श्वास लेने का अवसर नहीं मिलता या साहस नहीं होता फिर इन पन्द्रह के प्रहार से बचाव कैसे हो ?

इनके अतिरिक्त मानस दोष—

सम्मोहो भयं विषादो निद्रा तन्द्री प्रमादो जरा शोकः क्षुत् पिपासा कार्पण्यं क्रोधो नास्तिक्यमज्ञानं मात्सर्यं नैष्कारुण्यं मूढत्वं निर्व्रीडत्वं निराकृतित्वं समत्वमिति तामसानि। अन्तस्तृष्णा स्नेहो रागो लोभो हिंसा रतिर्दृष्टि र्व्यावृत्तत्वमीर्ष्याऽकाममस्थिरत्वं चलत्वं व्यग्रत्वं जिगीषाऽर्थोपार्जनं मित्रानुग्रहणं परिग्रहा-

बलम्बोऽनिष्टेष्विन्द्रियार्थेषु द्विष्टिरिष्टेष्वभिष्वङ्गः शुक्तस्वरोन्नतत्वमिति राजसान्येतैः परिपूर्ण एतैरभिभूत्वा इत्ययं भूतात्मा तस्मान्नानारूपाण्याप्नोति

(मैत्र्यु० ३ ।५)

शरीर के अन्दर दोष मूर्च्छा, भय, खेद, निद्रा, तन्द्रा (निन्द्रा का मादक प्रभाव), प्रमाद, जरा, शोक, भूख, प्यास,कृपणता, क्रोध, नास्तिकता, अज्ञान, मत्सरता (मानस जलन), निर्दयता, मूर्खता, निर्लज्जता, नकारस्वभाव, उद्दण्डता, असरलता, ये तामस दोष हैं। वासना, प्रेम, (मोह), राग, लोभ, हिंसा, रति, द्वेष, रूठना, ईर्ष्या, अनिच्छा, अस्थिरता, चञ्चलता, व्यग्रता, जीतने की इच्छा, धनोपार्जन की इच्छा, मित्रों का पक्ष, परिग्रह का अवलत्वन, अनिष्ट इन्द्रिय विषयों में द्वेष, इष्ट इन्द्रियविषयों में लगाव, कठोरस्वर। ये राजसिक दोष हैं इनसे परिपूर्ण हुआ वह आत्मा है। अतः इस प्रकार के नामरूपों को धारण करके प्राप्त करता है।

इन दोषों से भी मानव अशान्त रहता है शरीर क्या है मानों मूत्र पुरीष और विविध मलों का भण्डार, हड्डी मांस रक्तादि का कोठार असंख्य रोगों का सदन, काम क्रोध आदि मानसिक दोषों के वातावरण से वासित भवन है।

शरीररूप घर कच्चा है—

मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्।
मृडा सुक्षत्र मृडय॥

(ऋ० ७।८९।१)

वरने योग्य करने वाले परमात्मन् । अब मैं मृन्मय-मिट्टी के घर अर्थात् पार्थिव कच्चे घर को प्राप्त न होऊं । यह शरीररूप घर कच्चा है इसे शस्त्र से कट कट कर हड्डियों और मांस के टुकडों और लोथडों में बनजाना है, अग्नि से जल कर राख और कोयला बनजाना हैं, विष से विषण्ण-नीला पड जाना हैं, रोगों से रुग्ण और जरा से जीर्ण हो जाना है। त्राणकर्ता मुझे सुखी कर मुझ से दूसरों को सुखी कर ।

समस्त शरीरसृष्टि नश्वर—

सर्वं चेदं क्षयिष्णु पश्यामो यथेमे दंशमशकादय-स्तृणवनस्पतय उद्भूतप्रध्वंसिनः । अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः केचित् । सुद्युम्न भूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्नकुवलयाश्वयौवनाश्वबध्र्यश्वपतिः शशविन्दुहरिश्चन्द्रोऽम्बरीषननक्तुसर्यातिर्ययात्य-नरण्योक्षसेनादयः । अथ मरुत्तभरतप्रभृतयो राजानः । मिषतो बन्धुवर्गस्य महतीं श्रियं त्यक्त्वाऽस्माल्लोका-दमुं लोकं प्रयाता इति ॥

(मैत्र्युप० १ । ४ मैत्रायनी)

पुनः बृहद्रथ राजा शाकायन्य मुनि अपने वैराग्य सम्बन्धी अन्य विचार प्रकट करते हैं कि प्राणिमात्र को क्षीण होने वाला देखते हैं कि जो डांस मच्छर आदि जीव तृण वनस्पतियां सब उत्पन्न विनाशधर्मी हैं । न केवल ये ही किन्तु महाधनुर्धारी चक्रवर्ती

राजा जो हुए हैं सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवाश्व, वध्र्यश्व, अश्वपति, शशविन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, ननक्तु, सर्याति, ययाति, अनरण्य, उक्षसेन आदि और मरुत्त, भरत आदि राजा भी जीते जागते देखते हुए बन्धु वर्ग के (सामने) बड़ी राज्यश्री को त्याग कर इस लोक से चले गए—मर गए।

अनेक पारिवारिक जनों मित्रों राजपुरुषों सेवकों अङ्ग-रक्षकों सैनिकों चिकित्सकों (डाक्टरों) के होते हुए भी बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् भी मृत्युरूप वृक (भेड़िये) के मुख में जाने से न बच सके बचाए जा सके पुनः जिसके पारिवारिक जन सेवक या चिकित्सक (डाक्टर) एक दो या न भी हो उसके मृत्युरूप वृक (भेडिये) से बचने बचाने की तो क्या कथा। बड़े-बड़े राजा सम्राट् भी जब अपनी बड़ी भारी राज्यश्री लक्ष्मी को छोड़कर रिक्तहस्त (खाली हाथ) चले गए फिर कोई थोड़ी सम्पत्ति के लोभ में उसे साथ ले जाने की सोचे यह नितान्त अज्ञान की बात है। मृत्यु तो जब यम-सदनरूप बन्दीघर में ले जाने आता है तब सम्पत्ति साथ ले जाने की बात तो दूर रही वह तो अङ्ग पर पहिनने के वस्त्र को भी साथ नहीं ले जाने देता जैसा नग्न आया वैसा ही नग्न ले जाता है। शरीररूप वस्त्र को यहीं छुड़वा देता है।

मुझे एक वार रात्रि में एक स्वप्न आया कि मैं किसी झील में एक चट्टान पर बैठा हूं मेरा बन्धा बिस्तरा और बक्स मेरे पास है, झील में अनेक जन तैर रहे हैं मैं तेराई का दृश्य (खेल तमाशा) देख रहा हूं सब लोग तैराई करते चले गये पर मैं अन्तिम तैरने

वाले तक देखता रहा अपने झील से बाहिर आने को ध्यान न आया सायंकाल होने पर सब जन तैर कर चले गये। तब मुझे चिन्ता हुई कि कैसे पार होंऊं पास ही एक घोड़ा खडा दिखलाई पडा मैंने उस पर अपना विस्तर और बक्स रख और ऊपर चढ पार होने के लिये जब घोड़े का कान पकड़ा तो वह घोडा तो चट्टान निकला। उधर अन्धकार हो गया अब क्या किया जावे, बक्स बिस्तरे के मोह में रह गया। यदि उसे त्याग दिन दिन में किसी प्रकार हाथ-पैर मारता तो पार हो भी जाता पर अब अन्धकार में तो पार होना असम्भव ही हो गया यह जान अत्यन्त दुःख हुआ इतने में आंखें खुल गई। समझ में आया झील संसार है इसमें नाना विषय वाले पदार्थ खेल रूप हैं घररूप डेरा ही चट्टान हैं घोडा जड़ के रूप में यह जड़ शरीर है जिस पर बोझ लाद सवार हो पार होने का साधन समझा था पर यह हिल ही न सकने वाला रहा अन्धकार सामने आ खडा, वह मृत्यु है "मृत्यु वै तमः" (शत० १४।४।१।३२) बिस्तरे और बक्स का मोह मुझे झील से पार होने में बाधक बना। इनसे मोह छोड़ कर सायं से पूर्व हाथ-पैर मार कर पार तो हो जाता अन्धकार रूप मृत्यु सम्मुख आ खडा अब पार होने की कथा कहां ?

संसार की स्थिति—

अथ किमेतैर्वाऽन्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं व्रश्चनं वातरज्जूनां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणामित्येद्विधेऽस्मिन्त

संसारे किं कामोपभोगैः। यैरवाशितस्यासकृदिहावर्तनं दृश्यता इत्युद्धर्तुमर्हसि। अन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन्त्संसारे भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः॥

(मैत्र्यु० २।४)

और फिर इतने ही अस्थिर शरीर आदि की बात नहीं अपितु अन्य बड़े बड़े समुद्रों का सूख जाना*, पर्वतों का गिर जाना, सब ज्योतिष्मान् चक्रों के अवलम्बनरूप ध्रुव का प्रचलन हो जाना+, आकाशीय पिण्डों के वातरज्जुओं–वातसूत्रों का टूट जाना, पृथिवी

---

* कहा जाता ही है अनेक मरुस्थलों (रेगिस्तानों) में पहिले समुद्र थे।

+"सर्वज्योतिश्चक्रावलम्बनस्य ध्रुवस्य" (रामतीर्थो भाष्यकारः) ध्रुवप्रचलन को सम्पातचलन अक्षविचलन अयनविचलन भी कहते हैं, आज से चार सहस्र वर्षपूर्व यह वर्तमान ध्रुवतारा ध्रुवतारा नहींथा किंतु थूबन नाम का तारा ध्रुवतारा था। हमारी पृथिवी की तीन गतियां हैं—एक अपने केन्द्र पर सूर्य के सम्मुख दिन रात बनाने वाली, दूसरी सूर्य को केन्द्र मान कर उसके चारों ओर वर्ष बनाने वाली, तीसरी ध्रुवीय अक्ष पर जो २५९२० वर्ष की चक्रगति है। इसका आविष्कार यद्यपि वर्तमान समय में योरोपियन हिपार्कस ज्योतिषी ने ईसा से १२५ वर्ष पूर्व किया था, परन्तु भारतीय मुञ्जाल और विष्णुचन्द्र ज्योतिषी ने स्वतन्त्र रूप से इसे जान लिया था। मुञ्जाल और विष्णुचन्द्र की गणना वर्तमान अङ्गरेजी गणना के आस पास है। परन्तु इस उपनिषद्

का निमज्जित हो जाना तथा विलीन हो जाना, दिव्य पदार्थों का स्थानान्तर हो जाना, इस प्रकार के संसार में कामोपभोगों-विषय-भोगों के भोगने से क्या हित होना ? जिन कामभोगों के द्वारा उनके सेवन से उनके भोक्ता का पुनः पुनः आवर्तन-पुनः पुनः आना लौटना—बार बार पुनर्जन्म देखा जाता है ? अतः इससे मेरा उद्धार कर सकते हो। महात्मन् ! मेरढक के समान अन्धकूप में मैं पड़ा हूं आप ही हमारी गति हो आप ही रक्षा कर सकते हो।

संसार के विषय तो—

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः ।
येष्वासक्तास्तु भूतात्मा न स्मरेत् परं पदम् ॥
(मैत्र्युप० २)

की गणना से जो इसमें ध्रुव का स्थान दिया है वह आज से लगभग १६ सहस्र वर्ष का पड़ता है अतः हिपार्कस से पुराना है।

संसार चक्रशील है समुद्र से भाप उठ कर मेघ बनना, मेघों से वर्षा, वर्षा से जल, जल नदीरूप हो समुद्र में जा गिरते हैं। पुनः उसी भांति मेघ आदि चक्र। पृथिवी अपने केन्द्र पर सूर्य के सम्मुख चक्र लगाती है दिन रात का चक्र बनाती है सूर्य को केन्द्र मान कर चक्र लगाती है तो वर्ष का चक्र लगाती है। सारे ग्रहतारे नक्षत्र सितारे चक्र लगा रहे हैं। समस्त संसार चक्ररूप है पुनः इसको अवलम्बन बनाने वाले जीवात्मा को भी तो जन्म-मरण के चक्र में आना ही था कुम्हार के चक्र पर बैठी चींटी की भांति घूमना ही था।

संसार के शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध आदि अर्थ तो अनर्थ हैं जिनमें आसक्त हुआ आत्मा पर पद—परमेश्वर को स्मरण नहीं करता है।

बृहद्रथ राजा ने अपने वैराग्य के दो पार्श्व शाकायन्य मुनि के सम्मुख रखे, एक शरीरसम्बन्धी कि शरीर मूत्रपुरीष आदि नाना-विधमलों का भण्डार हड्डी मांसादि का कोठार असंख्य रोगों का सदन और काम क्रोधादि के वातावरण से वासित भवन है साथ-साथ नश्वर भी है। दूसरा संसार विषयों से पूर्ण और नश्वर है। ये दोनों मानव को ईश्वर से दूर हटाने वाले और दलित करने वाले हैं। कहते हैं कि—

चलती चक्की देख कर दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में साबित बचा न कोय॥

कबीर का कथन चक्की के दो पाटों और दानों के लिये था, पर यहां एक पाट शरीर है जिसमें विषयग्रहण के लिये कान आदि इन्द्रियां हैं और दूसरा पाट है संसार जिसमें शब्द आदि विषय वर्तमान हैं। इन दोनों पाटों के बीच में आत्मा है। और फिर आज कल तो ये दोनों राहे गए दान्तों वाले दलित करने को उद्यत हैं। धर्म और अध्यात्म के बहिष्कार से उत्तेजित इन्द्रियों का संस्थान शरीर एक पाट और दूसरा पाट चमक दमक तडक भडक वाले विषय पदार्थो से युक्त संसार जिसमें उत्तेजक आलाप और गाने उत्तेजक रंग शृङ्गार, उत्तेजक खान पान उत्तेजक तेल फुलेल हैं। फिर दोनों पाटों के बीच में आकर मानव कैसे विना दलित

हुए—विना पिसे रह सकता है ? हां यदि वह कीली का अवलम्बन करले इनकी कीली है परमात्मा उसे पकड ले उपासनाद्वारा और इन दोनों की ओर न चले अध्यात्म और वैराग्य को अन्दर धारण करने रूप बल से बलवान् बनकर।

तथा—

वेद में संसार को नदी का रूपक दिया है—

अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरत सखायः।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान् वयमुत्तरेमाभिवाजान्।

(ऋ० १०।५३।८१)

साथियो ! यह संसार नदी पाषाणवती–पथरीली वेग से वह रही है, सम्भलो उठो इसे तरो पार करो। सो इस प्रकार कि जो अकल्याणकर पापरूप बोझ हैं उसे यहां छोड़ दें और कल्याणकर पुण्य कर्मरूप बलों—तरण साधनों का सहारा लेकर इसे पार करें।

साधारण नदी को भी पार करते हुए सावधानी रखनी पड़ती है, परन्तु जो नदी वेग से बह रही हो उसे पार करने को तो अधिक सावधानी चाहिये और उसमें पत्थर पड़े हों पैरों में ठोकर देते हों चुभते हों तब तो और भी अधिक सावधानी की आवश्यकता है। पुनः उन पर पैर फिसलाने वाली काई जमी हुई हो तो उसमें प्रवेश करने को पग पग पर सावधान रहना होगा। इस पर भी शिर पर बोझा लदा हो तब तो क्या कहना ? तब तैरना न बनेगा डूबना ही होगा। यह संसार नदी वेग से बह रही है इसके वेग में बह गए बड़े बड़े राजे महाराजे, पता नहीं कौन बह कर कहां गया। इसमें विषय

पाषाण भरे पड़े हैं ऊपर टीप टाप की काई जमी हुई है पैर फिसलाने वाली। पुनः साथ में पाप बोझ लदा हो तो डूबना ही परिणाम है। अतः पाप बोझ को यहां ही त्याग कर पुण्यरूप तैरने में साधन को साथ लेकर जो इसमें उतरता है वह ही इस दुष्पार नदी का पार पाता है, अमर हो जाता है अतः बन्धुओ! पाप को त्याग कर पुण्य एवं अध्यात्म का उपार्जन कर इस संसार नदी को पार करें अमर रम्य धाम को प्राप्त करें।

सम्बन्धी जनों की स्थिति—

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे*।
समेत्य तु व्यपेयातां कालमासाद्य कश्चन॥
=एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः॥

(बाल्मीकि रा० अयो० १०५। २६-२७)

जैसे महानद में भिन्न भिन्न स्थानों से बहते हुए आए काष्ठ काष्ठ इकट्ठे होजावें पुनः कुछ काल में अलग अलग होजाते हैं वैसे ही पत्नी पुत्र सम्बन्धी जन आदि इकट्ठे होकर अलग अलग होजाते हैं, इनका अलग अलग होना अटल हैं।

---

* यथाकाष्ठ च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः॥
(महाभा० शान्ति० अ० २८। ३६

= ऊपर व्याख्या के नीचे भिन्नपाठ महाभारत का

एवं पुत्राश्च पौत्राश्च ज्ञातयो बान्धवाश्च ।
तेषां स्नेहो न कर्तव्यो विप्रयोगो ध्रुवो हि ते ॥

(महाभा० शान्ति० मोक्ष० अ० १७४)

इसी प्रकार पुत्र पौत्र सम्बन्धी बान्धव जन हैं जो मिलते और अलग होते हैं, उनमें राग नहीं करना क्योंकि उनसे वियोग तेरा निश्चित है।

स्नेह से गिली बत्ति भी दग्ध होजाती है—

स्मृत्वा वियोगजं दुःखं त्यज स्नेहं प्रिये जने ।
अतिस्नेहपरिष्वङ्गात् वर्त्तिरार्द्राऽपि दह्यते ॥

(बाल्मीकि० १ । ११८)

सीता के वियोग में राम को विमूढ़ हुआ देख लक्ष्मण ने कहा कि वियोग से होनेवाले दुःख को लक्ष्य करके जो भारी दुःख होता है सीता में स्नेह त्याग दे, क्योंकि अतिस्नेह से संसर्ग से गीली बत्ती भी दग्ध हो जाती है।

सम्बन्धिजनों में ममत्व मानसिक अभ्यास से है—

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः ।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो ह जात स उ गर्भे अन्तः ॥

(अथर्व० १० । ८ । २८)

एक ही महानुभाव मन में भिन्न भिन्न रूपों से मानसिक अभ्यास से, मन में प्रविष्ट है बैठा हुआ है वह बच्चों का पिता है, वृद्धों का पुत्र है, छोटे बन्धुओं का बड़ा भाई, बड़े बन्धुओं का छोटा भाई

वही किसी देवी के लिये कभी नवजात पुत्र के रूप में अपनाया जारहा था वही कभी उसके गर्भ में भावित किया जारहा था कि मेरे गर्भ में है।

मानव ने संसार में ममता का प्रसार कर रखा है, ममता के सीमाबन्धन अपने चारों ओर बान्ध रखे हैं और वे अपने मन से बान्ध रखे हैं। क्या माता में मातापन पिता में पितापन भ्राता में भ्रातापन पुत्र में पुत्रपन आदि की ममता सहवास से मन में अभ्यास द्वारा बना रखी है उत्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई देवी पुत्र उत्पन्न करके मर जाती है दूसरी देवी उसे पालती है। वह बालक उस पालने वाली के प्रति मातापन का ममत्व करता है उसे अपनी माता मानता है और कहता है। जब वह बालक बड़ा होजावे पन्द्रह वर्ष जितना होजावे कोई उसे कहे कि यह तेरी माता नही तेरी माता तो मर गई है वह नहीं मान सकता न पालनेवाली से मातापन का ममत्व हटा सकता है। इसी प्रकार एक देवी ने पुत्र को जन्म दिया, युक्ति से छिपाकर उसके आगे से उसे उठा लिया जावे और नवजात कन्या को उसके पास रख दिया जावे तो उसे अपनी पुत्री समझेगी उससे वह पुत्रीपन का ममत्व करेगी पुत्री कहेगी, जब वह कन्या बारह वर्ष की होजावे उस देवी से कोई कहे बहिन यह तेरी पुत्री नहीं है तूने तो पुत्र जना था वह नहीं मानसकती और उस कन्या से पुत्रीपन के ममत्व को न हटा सकती है। अनेक बालकों के अन्दर अपनी जन्मदेनेवाली माता के प्रति मातापन का ममत्व नहीं होंता है किन्तु मासी मामी चाची बुआ के अन्दर मातापन का ममत्व

होता है जिसके सहवास में प्रारम्भ से रहते आए या रहते हैं। जो पिता विदेश में बीस पच्चीस वर्ष रहकर घर आते है तो अपने पुत्र को नहीं पहिचान पाते हैं जिनको कि चार पांच वर्ष की आयु में छोड़ गये थे। वही अब दाढ़ी मूछवाला होगया है फिर यह कहते हुए वहीं सिदेश चले जाते हैं कि हमारा मन नहीं लगता क्योंकि भारत में हमारा कोई नहीं है। पुत्र होताहुआ भी न होने के समान है प्रतिदिन देख देख जो मन में अभ्यास होना था कि यह मेरा पुत्र है यह मेरा पुत्र है वह न हुआ।

पतिपत्नी में अमर्यादित स्नेहसम्बन्ध होजाने से जहां वे पुनः पुनः रोगों या स्थायी रोगों के ग्रास बन जाते हैं साथ ही पारिवारिक जीवन को कलह संघर्ष और अशान्ति का आवास बना लेते हैं। ऐसा देखने में आता है जहां तरुण पतिपत्नी में अमर्यादित स्नेह है वहां वधू के वृद्ध सास ससुर वा पति के माता पिता दुःखी रहते हैं सताए जाते हैं और जहां वृद्ध पतिपत्नी में अमर्यादित स्नेह होता है वहां उनके तरुण वधू पुत्र दुःख पाते हैं सताए जाते हैं।

सम्बन्धियों के ममत्व को हटाने के लिये धारणा करे कि—

अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्य चित्।
न तं पश्यमि यस्याहं तन्न पश्यामि यो मम॥
न तेषां भवता कार्यं न कार्यं तव तैरपि।
स्वकृतस्यैतानि जातानि भवांश्चैव गमिष्यति॥

(महाभा० शान्तिप० मोक्ष० अ० ३२१ । ६)

मैं अकेला हूं मेरा कोई नहीं, न मैं किसी का हूं, न मैं किसी ऐसे को देखता हूं जिसका मैं हूं और न उसे देखता हूं जो मेरा हो। वस्तुतः न उनका तुझसे कार्य और न तेरा उनसे कार्य है ये भी अपने किए कर्मफलोंको प्राप्त किए हुए हैं और तूभी अपने किए कर्म फलों को प्राप्त करेगा ऐसा मन में निश्चय करना।

सब को अपने अपने कर्मानुसार संसार में फल भोग कर संसार से प्रस्थान कर जाना है कोई किसी के साथ नहीं बन्धा है। दयानन्द बहिन और चाचा की मृत्यु को देख वैराग्य को प्राप्त हो घर छोड़ चले।

अन्त समय को देख दयानन्द घर से वन को जाता।
निश्चय अपना किया जगत् में किसका किससे नाता॥

अतः—

द्रव्येषु समतीतेषु ये गुणास्तान्न चिन्तयेत्।
न तानाद्रियेमाणस्य स्नेहबन्धः प्रमुच्यते॥ ५॥
दोषदर्शी भवेत् तत्र यत्र रागः प्रवर्तते।
अनिर्वधित्वं पश्येत तथा क्षिप्रं विरज्यते॥ ६॥
मृतं वा यदि वा नष्टं योऽतीतमनुशोचति।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ प्रपद्यते॥ ८॥
प्राक् सम्प्रयोगाद् भूतानां नास्ति दुःखं परायाणम्।
विप्रयोगात्तु सर्वस्य न शोचेत् प्रकृतिस्थितः॥ २७॥
(महाभा० शान्तिप० मोक्ष० अ० ३३०)

नष्ट हुए पुत्र आदि सम्बन्धियों और वस्तुओं में जो अपने हितार्थ गुण थे उनका चिन्तन न करे क्योंकि उन गुणों को आदर—मन में स्थान देने से स्नेहबन्धन नहीं छूटता है। जिस वस्तु में राग हो उस में दोषों को देखे उस में अपना अकल्याण देखे तो शीघ्र छूट जाता है। जो मरे हुए या नष्ट हुए पिछले का शोक करता है वह वियोग दुःख से आगे भावी दुःख को प्राप्त करता है इस प्रकार दोनों अनर्थों को–वर्तमान वियोगज दुःखको और भावी चिन्ता दुःखको प्राप्त करता है। प्राणियों के संयोग से पूर्व मृत्यु-सम्बन्धी की मृत्यु का दुःख नहीं होता है किन्तु उनके वियोग से तो सबको दुःख होता है। अतः अपनी स्वस्थावस्था में रहता हुआ शोक न करे।

संसार में बन्धन का कारण कामवासना है—

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम्।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्म भूयाय कल्पते॥

(महाभा० शान्ति० मोक्ष०)

कामवासना ही बन्धन है और कोई बन्धन नहीं, कामबन्धन से मुक्त हुआ मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

तथा—

रागविरागयोर्योगः सृष्टिः॥

(सांख्यदर्शन० २।६)

राग और द्वेष का सम्बन्ध ही सृष्टि है ये दोनों या इनमें कोई भी एक हो तब भी सृष्टि का प्रसङ्ग बना ही रहता है।

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥

(मैत्रायणी मैत्र्यु० ६ । ३)

चित्त ही संसार है इसे प्रयत्न से शोधना चाहिए क्योंकि जैसे चित्तवाला होगा उस चित्त वाला आत्मा हो जावेगा ।

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥

(मैत्र्यु० ६ । २०)

चित्त की निर्मलता एवं स्थिरता से पुण्य पाप कर्म का हनन अर्थात् अभाव करता है, प्रसन्न आत्मा परमात्मा में स्थित हो कर अव्यय सुख को प्राप्त होता है ।

अतः—

यावत् स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो ।
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत् क्षयो नायुषः ॥
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान् ।

(वैराग्यशतकम् । ७९)

जब तक यह शरीर स्वस्थ नीरोग है जब तक जरा-बुढापा दूर हैं, जब तक इन्द्रियों की शक्ति बनी हुई है, जब तक आयु का क्षय न हो तब तक आत्मकल्याण के निमित्त विद्वान् को महान् प्रयत्न करना चाहिए ।

क्योंकि—

को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति।
युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम् ॥
(महाभा० शान्तिप० मोक्ष० अ० १७५)

कौन जानता है आज किस का मृत्युकाल होगा ? अतः मनुष्य युवा होते हुए ही धर्मशील हो। क्योंकि यह जीवन सदा बना रहने वाला नहीं है।

मानव को युवावस्था में ही अपने को धर्मशील ध्यानशील अध्यात्मशील बनाना चाहिए वैराग्य और अभ्यास को यौवनकाल में ही अपने अन्दर ढालना चाहिए। बुढापे में वैराग्य धारण करेंगे योगाभ्यास का सेवन करेंगे ईश्वर का ध्यान करेंगे यह सोचना अज्ञता है पता नहीं बुढापे तक पहुँचे या नहीं, पहुँचने पर भी स्मरण रहे न रहे, स्मरण रहने पर भी शक्ति रहे न रहे, साधन रहें न रहें, यौवन काल में भी आगे न जाने कोई गम्भीर रोग न पकडले या मृत्यु ही न हो जावे अतः यौवन काल में ही शीघ्र से शीघ्र परमात्मा के ध्यान का अभ्यासी बनजाना चाहिए अध्यात्म धन कमा लेना चाहिए जिससे बुढापा भी शान्ति से व्यतीत होसके। जो मनुष्य यौवन काल में धन नहीं कमा पाता उसका बुढापा दुःख-मय रहता है। बुढापे में संयम वैराग्य त्याग करेंगे ऐसी चर्चा करना ऐसा ही जैसे धन साधन होते हुए दान या त्याग न करके दरिद्र हो जाने पर दान या त्याग करना सोचा जावे। और यौवन काल में संयम वैराग्य त्याग योगाभ्यास का सेवन करना वीरता है और महत्त्व रखता है बुढापे में जब इन्द्रियां शिथिल हो चुकी कानों से

सुनना मन्द या बन्द होगया, आंखों की दृष्टि कुछ ही रही या चली गई, मुख में डाढ दान्त मसूडों की सफाई होगई तब अपने को संयमी त्यागी वैरागी कहना ईश्वरोपासक कहना मात्र प्रवंचना है धोखा है प्रदर्शन है। स्मरण रहे जिस बात का अभ्यास अच्छा या बुरा यौवन काल में हो जावेगा वह बात बुढापे में उसी रूप में प्रवृत्त रहेगी बनी रहेगी। यौवन काल में चोरी करता रहा तो बुढापे में साधु बनकर भी हेरा फेरी तो करेगा ही और मृत्युकाल में जीवन भर चरित आचरण का दृश्य आना ही होगा। अभद्र का अभद्ररूप में और भद्र का भद्र रूप में। चिडी मार को चिडियों द्वारा सताए जाने का, कामी को देवियों के सतीत्व नाश के पापाभिशाप का, रागी को राग गाने बजाने का ध्यान आया, सिनेमा के आविष्कारक को एक और दृश्य एक और दृश्य कहते हुए प्राण छोडते देखा गया, एटम् के आविष्कारक को एटम् एटम् कहते हुए मरते देखा। शास्त्रविचारक शास्त्रार्थी को शास्त्रार्थ का आह्वान करते हुए, ईश्वरोपासक को ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो कहते हुए प्रयाण करते सुना गया। अतः यौवनकाल में ही इन्द्रियों की वहिर्मुख प्रवृत्ति को बन्द करके अन्दर आत्मा और परमात्मा को देखने का अभ्यासी बनकर मानव अपने जीवन को सफल करता है अमर हो जाता है।

अब अभ्यास का विषय प्रस्तुत करते हैं।

अभ्यास

प्रथम स्थली में कह आए हैं कि अष्टाङ्गयोग * को अभ्यास कहते हैं और वह अभ्यास दो प्रकार का है, एक व्रताभ्यास और दूसरा क्रियाभ्यास। व्रताभ्यास अर्थात् यम, नियम का वर्णन तो वहां कर आए हैं, अब यहां क्रियाभ्यास अर्थात् जो आसन से लेकर समाधिपर्यन्त हैं उसे दर्शाते हैं। हम प्रथम स्थली में बतला आए हैं कि यह अष्टाङ्ग योग उपासना मार्ग है, उपासना—पास बैठने का मार्ग, सो माता-पिता, गुरु, मित्र के पास बैठना होता है और अधिक से अधिक पास बैठना तब बनता जब इनके अनुरूप अनुगुण और अनुशील बना जावे। परमात्मा हमारी माता, हमारा पिता, गुरु, और मित्र है उसके अधिकाधिक पास बैठने के लिये भी उसके अनुरूप, अनुगुण, और अनुशील बनना होगा, उसके कर्म,गुण और शीलस्वभाव पवित्र है वह इन पवित्रगुणों का भण्डार है। तब उन पवित्र गुणशीलों को धारण करना होगा वे गुणशील हैं यम, नियम नाम से अहिंसा आदि व्रताभ्यास। पुनः पास बैठने में अपना स्थान भी छोडना है आत्मा का स्थान है शरीर; प्राण, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार। इन स्थानों को छोडने के लिये हैं क्रमशः आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, एकाग्रसमाधि-सम्प्रज्ञात, निरोधसमाधि-असम्प्रज्ञात समाधि। सो वह आसन से

---

* यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।

निरोधसमाधि तक का क्रम आत्मा का स्थान छुडाने के लिये है। इसे दूसरी दृष्टि से देखेंगे वह इस प्रकार कि एक यात्री एक मार्ग पर चल रहा है उसे यह पता नहीं कि वह इस मार्ग पर कैसे चलने को आगया। अस्तु। उस मार्ग का वह बहुत भाग चल चुका है परन्तु मार्ग नितान्त दूषित है पदे पदे मल मूत्र सडे गले जन्तुओं की और जङ्गली वनस्पतियों की दुर्गन्ध आरही है बुरी तरह आरही है गन्दे विचित्र दृश्य उन मल मूत्रों के सडे गले जन्तुओं के आंखों को न भाने वाली भोंडे रंग और आकार वाली वनस्पतियों के साथ में कहीं कहीं बिच्छू सर्प और जङ्गली हिंसक भयङ्कर जन्तुओं के दृश्य भी देखने में आते रहते हैं वह इन गन्धों और दृश्यों से बचना चाहता है परन्तु क्या करे पीछे ऐसा ही मार्ग था और आगे भी ऐसा ही मार्ग है प्यास लगी हुई है और अब वह इतना श्रान्त व्याकुल और अशान्त है कि चाहे पीछे लौट चाहे आगे बढे दो फर्लांग से अधिक नहीं चलसकता इस से भी पूर्व वह अचेत होजावेगा। प्राण तक छोड देगा। उसने देखा मार्ग से पृथक् पर्वत की उपत्यका में लगभग चौथाई फर्लाङ्ग (५० गज) पर एक कुटी है और छोटी सी पगडण्डी भी मार्ग में से उधर को जारही है वह उस पगडण्डी के सिरे पर खडे होकर कुटीर की ओर देखने लगा तो पगडण्डी साफ है कुटीर की ओर से कुछ सुगन्ध सी भी आरही लगती है ऐसा देख और जान पगडण्डी पर चल कुटीर पहुंच गया। कुटीर का बाहिरी द्वार खुला था बाहिरी द्वार के बाहिर जल का स्रोत था जल ठण्डा था प्रथम जलपान कर प्यास बुझाई। फिर बाहिरी द्वार से अन्दर

गया कोई वहां मनुष्य न था, उसने देखा कि बाहिरी द्वार गोलरूप ऊपर से ढके हुए छते हुए ब्राम्दे का है उस गोल ब्राम्दे के बीचमें गोल कमरा है ठीक बाहिरी द्वार के सामने उस गोल कमरे का द्वार है पर वह अन्दर से बन्द है। यात्री ने देखा कि गोलकमरे की भित्ति में चारों ओर छोटे छोटे गोल छिद्र हैं उन छिद्रों में से बहुत उत्तम मधुर सुगन्ध बाहिर आरही बाहिरी द्वार से पगडण्डी पर भी फ़ैलरही है। तथा उसी गोल भित्ति में छोटे छोटे स्फटिकमणि-जटित छिद्र भी है जिन के अन्दर से अन्दर के बहुत सुन्दर चित्र बाहिर प्रति बिम्बित हो रहे हैं यात्री पुनः पुनः अन्दर के द्वार को धक्का देता है अन्दर घुसने के लिये पर वे अन्दर के कपाट नहीं खुलते। सहसा यात्री को उस द्वार के ऊपर की ओर दो वचन लिखे हुए दिखलाई पडे एक संस्कृत में और एक हिन्दी में जो निम्न प्रकार है—

प्रत्यगात्मानमैक्षदावृतचक्षुः।

(कठोपनिषद्।)

अन्दर के पट तब खुलें जब बाहिर के पट दे।

यात्री ने इन वचनों को पढ और समझ कर बाहिरी द्वार(कपाट) बन्द कर दिए उनके बन्द होते ही तुरन्त अन्दर के पट (कपाट) खुल गए उन दोनों द्वारों में ऐसा सम्बन्ध था कि बाहिर का बन्द होने पर अन्दर का खुलता था अन्दर बन्द होने पर बाहिर का खुलता था, अन्दर कुटीर में जाता है तो शान्त आनन्दस्वरूप कुटीर-स्वामी का दर्शन करता है उसके ऐश्वर्य से सम्पन्न दिव्यगन्धों और

दिव्य दृश्यों से वह स्वस्थ होजाता है अपने रूप में आजाता है अपने साथ साक्षात् शान्त आनन्द स्वरूप कुटीर स्वामी को पाकर शान्त और आनन्दवान् बन जाता है और ऐसा लगता है यह तो मेरे पुरातन सखा है जैसे वेद में कहा है—

क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुराचित् ।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते ॥

(ऋ० ७ । ८८ । ५)

हे आनन्द रस पूर्ण रसीले मेरे सखा परमात्मन् ! हम दोनों के वे सखिभाव-समानख्यान-समान आनन्द संश्लेष सम्बन्ध कहां चले गऐ पहिले जो अभिन्न अच्छिन्न सखिभाव थे, उन पुरातन अच्छिन्न सखि भावों को फिर हम दोनों सेवन करें-बनावें । तेरे महान् मानकारी-मापनेवाले [विस्तृत संसार भी जिस के सम्मुख तुच्छ है ऐसे] सहस्र द्वारों वाले घर खुले विचरण सदन रूप मोक्षधाम को प्राप्त होंऊं ।

यह तो दृष्टान्त था, अभिप्राय या सार यह है कि आसन से लेकर समाधि पर्यन्त का अभ्यास आत्मा के बाहिरी पट बन्द करने जैसा है । परन्तु यह यौवनकाल में करना विशेष हित कर है बृद्धावस्था में तो स्वत ही ये पट बन्द हो जाते हैं परन्तु अन्दर तो वह गन्ध बला भरी हुई है उसके परिमार्जन का समय समाप्तप्रायः, फिर आत्मशान्ति कहां वृद्धावस्था में पटबन्द पटतन्त्री के शिथिल होने से स्प्रिग ढीली होने से हुए हैं द्रष्टा के बल से नहीं यौवन काल में पटबन्द करने से द्रष्टा का बल अन्दर के पट खोलते में समर्थ होता

है तथा आगे अन्दर मल गन्ध न जासकेगा और अन्दर वसे मल गन्ध का परिमार्जन अध्यात्म चिन्तन से किया जाना सुलभ है और उसके लिये समय भी है।

आसन—

स्थिरसुखमासनम् ।

(योग० २। ४६)

शरीराङ्गों के स्थिर होने का सुख जिस में हो वह आसन है।

अङ्गों में स्थिरता होजाना भी एक सुख है, जैसे गन्धसुख रससुख रूपसुख स्पर्शसुख और शब्दसुख होते हैं ऐसे ही अङ्गों में स्थिरता होना अङ्ग अङ्ग को विश्राम मिल जाना भी एक सुख है। इस अनुभूति का उदाहरण यह है कि दौडधूप से श्रान्त (थका) मनुष्य अङ्गों में स्थिरता चाहता है। जब वह स्थिराङ्ग होजाता है तो आनन्द की अनुभूति से मीठी नीन्द तक में चला जाता, है परन्तु आसन लगाकर स्वयं अङ्गों में स्थिरता लाने में आनन्द की अनुभूति प्रामादिक नीन्द नहीं लाती वह तो चेतना के साथ समाधि धारा में निमग्न कराती है वह ऐसा आसन कैसे लगाया जावे यह अगले सूत्र में दर्शाया है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥

(योग० २। ४७)

प्रयत्न की शिथिलता अर्थात् हाथ पांव आदि शरीराङ्गों में जो उनका प्रयत्न अर्थात् क्रिया चेष्टा है उसे शिथिल कर देना लेशमात्र

भी उन में चेष्टा न रहे तथा अनन्त आकाश में उनकी समापत्ति बनादेना एकाङ्गता कर देना मिला देना उनका न होने के समान बनजाना प्रतीति ही न होना इन दो उपायों से स्थिरसुख आसन बनता है। आसन यद्यपि व्यासभाष्य के अनुसार अनेक हैं स्थिरसुखासन, यथासुखासन, सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि, परन्तु प्रत्येक आसन में सूत्रानुसार उक्त दो बातें आजानी चाहिऐं अङ्गों में निश्चेष्टता और उनका आकाश में मेल सा हो जाना या प्रतीत न होना। यह ऐसा आसन ध्यान में अभीष्ट है यही वस्तुतः योगासन योग का साधक आसन है। परन्तु जिस आसन में चेष्टा होती रहे वह आसन वस्तुतः योगासन योग का साधक आसन नहीं रोग का बाधक या स्वास्थ्य का साधक कदाचित् हो उसे तो व्यायाम ही कहना ठीक है पर वह व्यायामविशारदों एवं चिकित्सक जनों द्वारा अनुमोदित हो।

प्राणायाम—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयो गतिविच्छेदः प्राणायामः॥

(योग० २। ४९)

उस ऐसे आसन के लग जाने पर या उक्त कथनानुसार आसन लगाकर श्वास-बाहिर से अन्दर आनेवाले वायु की और प्रश्वास-अन्दर से बाहिर निकलनेवाले वायु की गति का विच्छेद-वायु के लेने और छोडने को बन्द करदेना या रोकदेना प्राणायाम है। स्मरण रहे रोकने का नाम प्राणायाम है सञ्चालन का नाम नहीं। चाहे वह बाहिर से अन्दर लिया जा रहा हो या अन्दर से बाहिर निकाला

जा रहा हो वह ऐसा चालू अवस्था में प्राणायाम नहीं कहला सकता उसे पूरक प्राणायाम और रेचक प्राणायाम न कह कर प्राणका पूरक सञ्चालन और रेचक सञ्चालन ही कहसकेंगे उसे प्राणायाम नाम देना विपरीत ही है।

प्राणायाम चार प्रकार का होता है बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति, स्तम्भवृत्ति* और बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी+ ।

बाह्यवृत्ति प्राणायाम—

श्वास को अन्दर से नासिका के दोनों छिद्रों द्वारा बाहिर निकाल कर बाहिर ही रोक देना बाह्यवृत्ति प्राणायाम है। फेंकते समय इतना बल से फेंकना कि श्वास को टक्कर जहां बैठे हों वहां तक लगे, जैसे वमन (उलटी) वेग से होकर अन्न जल बाहिर निकल जाता है। श्वास को नीचे से अर्थात् मूलेन्द्रिय (गुदा) को ऊपर सङ्कोच कर फेंके उसका सङ्कोच ऐसा करे जैसा कि कहीं सभा आदि में बैठे हुए शौच की प्रवृत्ति होजाने पर गुदा का ऊपर सङ्कोच करते हैं, इस से श्वास बाहिर दूर तक जा सकेगा। जैसा कि कोई कूदने वाला जितना आगे कूदना चाहता है उतना हि पीछे से दौड कर आता है। जब घबराहट हो तो धीरे धीरे पूर्ण श्वास अन्दर लेले यह एक प्राणायाम हुआ। उसे अन्दर न रोक कर पुनः

---

*बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।
(योग० २।५०)

+बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।
(योग० २।५१)

वैसे ही बल से बाहिर फेंककर रोकना। इस प्रकार कम से कम तीन प्राणायाम करे और अधिकतो सामर्थ्य एवं इच्छा के अनुसार करे। इसे बाहिर के देशक्रम अर्थात् नासिका से ४, ८, १२, १६ अङ्गुल दूर फेंकने के अभ्यासक्रम से भी करते हैं काल की दृष्टि से पांच दश पन्द्रह मिनटतक प्राणायामों को करना होता है साथ ही श्वास को गूंज के साथ और विना गूंज के भी निकाला जाता है।

आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम—

श्वास को बाहिर से लेकर अन्दर ही रोक लेना जब घबराहट हो तो बाहिर निकाल देना यह एक प्राणायाम हुआ। पुनः बाहिर न रोक कर अन्दर लेकर अन्दर ही रोकना। इसे भी कम से कम तीन बार करे आगे शक्ति और इच्छा के अनुसार करे। देश की दृष्टि से अर्थात् कण्ठ, छाती आदि के स्थान तक अधिक ले लेकर भी रोकते हैं, काल और गूंज तथा विना गूंज के साथ भी पूर्व की भांति करे।

ज्ञातव्य—बाह्यवृत्ति और आभ्यन्तर वृत्ति में से एक एक का अभ्यास करें दोनों का साथ साथ नहीं। एक एक का ही अभ्यास बनता है जैसे किसी वस्तु को फलावें तो फैलाते जावें और सुकेड़ें तो सुकड़ते जावें। दोनों को एक साथ करने पर किसी एक का भी अभ्यास न बनेगा।

स्तम्भवृत्ति प्राणायाम—

जब पूर्वोक्त दोनों प्राणायामों का अभ्यास बन जावे तो फिर वह तीसरा प्राणायाम किया जाता है। इसमें श्वास बाहिर फेंकने

और भीतर लेने का यत्न नहीं करना होता है किन्तु श्वास को तुरन्त विना विचारे जहां का तहां रोक दिया जाता है; श्वास अन्दर या बाहिर है यह न विचार करते हुए जैसे स्तम्भ—खम्भा स्थिर है ऐसे स्थिर स्थिति में गति को न अपेक्षित करके श्वास रोकते हैं।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी प्राणायाम—

श्वास बाहिर रोका हुआ है वह अन्दर आना चाहता है उसे अन्दर न आने देके विपरीत अन्दर से ही बाहिर को दो-चार धक्के देकर रोकना, यह बाह्यविषयाक्षेपी प्राणायाम हुआ। अन्दर श्वास रोका हुआ वह बाहिर आना चाहता है उसे बाहिर न जाने देकर विपरीत बाहिर से अन्दर को दो-चार घूंट सी श्वास की लेकर रोकना; यह आभ्यन्तर विषयाक्षेपी प्राणायाम हुआ।

विज्ञप्ति—इन चारों में से किसी भी प्राणायाम में नासिका के किसी भी छिद्र को या दोनों छिद्रों को अंगुलियों से बन्द नहीं करना चाहिए। इस प्रकार बल से बन्द करके प्राणायाम की बालक्रीड़ा अवाञ्छनीय है, किन्तु दोनों छिद्रों के खुले हुए मनोबल से मानसिक नियन्त्रण से प्राणायाम करना ही ध्यान में अभीष्ट और हितकर है।

प्राणायाम के योगक्रम में लाभ—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

(योग० २।५२)

प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश अर्थात् विवेकज्ञान का आवरण अज्ञानान्धकार क्षीण हो जाता है। आन्तरिक ज्ञान एवं

बुद्धि का प्रकाश आविर्भूत हो जाता है *।

धारणासु योग्यता मनसः ॥

(योग० २ । ५३)

धारणाओं के करने में मन की योग्यता हो जाती है। क्योंकि प्राणायाम करने से मन इधर उधर की दौड़-धूप छोड़ कर स्थिर होता है साथ ही प्राणसंस्थान नाडियों एवं नाडियों के विशिष्ट केन्द्रों में जागृति या आन्दोलन सा हो जाने से मन उधर खिच जाता है मन वहां घुस कर बैठना चाहता है अतः धारणा के स्थानों में मन की योग्यता—युक्तता वहां स्थिर होना ठीक है।

प्राणायाम करने से इन्द्रियों के दोष भी दूर हो जाते हैं+ इन्द्रियों के मल दोष दग्ध हो जाने से मन का भी पवित्र और स्थिर हो जाना ही हुआ।

प्राणायाम से जीवनबल मनोबल और आत्मबल का लाभ—

---

* प्राणायामाभ्यास से बुद्धि तीव्र हो जाती है सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण कर लेता है (सत्यार्थप्रकाश तृतीयसमुल्लास)।

+दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥
(मनु० ६ । ७१)

अग्नि में धौंकी जाती हुई धातुओं के जैसे मल दोष दग्ध हो जाते हैं ऐसे ही प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं।

नमस्ते अस्त्वायते नमोऽस्तु परायते ।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनाय उत ते नमः ॥
(अथर्व० ११ । ६ । ५)

हे प्राण ! तुझ अन्दर आते हुए के लिए नमः—स्वागत हो, बाहिर जाते हुए के लिए स्वागत हो । तुझ अन्दर आकर ठहर जाते हुए—आभ्यन्तर प्राणायामरूप में होने वाले के लिये स्वागत हो और बाहिर जाकर स्थिर हुए बाह्य प्राणायाम के रूप में हुए के लिए स्वागत हो ।

जैसे प्राण का लेना और छोड़ना स्वागत के योग्य हैं एवं प्राण का अन्दर आकर ठहर जाना—आभ्यन्तर प्राणायाम के रूप में हो जाना और पुनः बाहिर निकल कर बाहिर स्थिर हो जाना बाह्य प्राणायाम के रूप में हो जाना भी स्वागत करने योग्य है यह कथन शरीरविज्ञान मनोविज्ञान और आत्मविज्ञान की दृष्टि से है। प्राणायामकाल में प्राणयन्त्र को विश्राम मिलता हैं परन्तु साथ ही उसका शोधन भी हो जाता है । बाहिरी निर्जीव भौतिक कलायन्त्र (मशीन) को विश्राम देने से उसे मल लग जाता है पर इसमें प्राण की सूक्ष्म गति होने से इसका शोधन होता रहता है बाहिरी यन्त्र (मशीन) को शोधन करने के लिए उसे ठहरा कर शोधते हैं । प्राणयन्त्र का शोधन तो प्राणायाम द्वारा हो जाता है। प्राणायाम उसके लिये शोधन सहित विश्राम है । अतः शरीर बल स्वास्थ्य दीर्घ जीवन, मनोबल, मन शुद्धि और आत्मबल–आत्मज्ञान का विकास होना स्वाभाविक है ।

प्रत्याहार—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥

(योगसूत्र २ । ५४)

नेत्र आदि इन्द्रियों का अपने अपने विषयों का ग्रहण न करके—अपने अपने विषय की ओर आकर्षित न होकर चित्त के स्वरूप का अनुकरण कर लेना जैसा अर्थात् जैसे चित्त का गन्ध आदि विषय नहीं है एवं इन्द्रियों का भी अपने अपने गन्ध आदि विषय की ओर न जाकर चित्त जैसी निर्विषय बन जाना प्रत्याहार है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥

(योगसूत्र २ । ५ । ५)

तब इन्द्रियों की परम वश्यता ऊंची वशीकार स्थिति हो जाती है। वह कैसी सो व्यास भाष्य के अनुसार निम्न प्रकार है—

१—"शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित्" वह इन्द्रियजय शब्द आदि में व्यसन न हो—पुनः पुनः भोग की प्रवृत्ति न हो। ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं।

२—"शब्दादिसम्प्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये" शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध विषयों का उपभोग अपनी इच्छा–यथावसर आवश्यकता से हो अनावश्यक विषयों के आकर्षण से या उनकी उपस्थिति मात्र से न हो ऐसा अन्य महानुभाव कहते हैं।

३—"रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित्" शब्द आदि विषयों के प्रति राग द्वेष न होकर सुख दुःख-

रहित उनका ज्ञान मात्र न कि उनमें भोग की इच्छा ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं।

४—"चित्तैकाग्रचाद प्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः" चित्त के एकाग्र होजाने से शब्द आदि विषयों का ज्ञान भान भी न होना यह जैगीषव्य आचार्य कहते हैं।

इन चारों में क्रमशः उत्तरोत्तर ऊंची ऊंची स्थिति वश्यता की कही हैं।

वेद में प्रत्याहार तथा उससे प्राप्त परमावश्यता का वर्णन और भी ऊंचा है—

वि मे कर्णा पतयतो विचक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्। वि मे मनश्चरति दूर आधीः किँ स्विद् वक्ष्यामि किमु नु मनिष्ये ॥

(ऋ० ६।९।६)

मेरे कान शब्दव्यसन से विगत हो गए—अलग हो गए शब्दव्यसन में जाना छोड़ दिया*। नेत्र—आंख रूपव्यसन से अलग हो गई—रूप व्यसन में जाना छोड़ दिया+। दूर दूर की सोचने वाला

*मन्त्र में 'वि' उपसर्ग विरोध और विशेष अर्थ में श्लेषालङ्कार से है। अतः मन्त्र के दो अर्थ संगत हैं। यहां विरोध अर्थ में देते हैं विशेष आगे देगें।

+ कान और आंख उपलक्षणार्थ है इनके इद्रियों में प्रधान होने से तथा अन्तःकरण में प्रधान हैं मन और अहङ्कार, अतः समस्त इन्द्रियां और अन्तःकरण अपने अपने विषय से अलग अलग हो गई।

मेरा मन अपने सङ्कल्प विकल्प व्यवहार से अलग हो गया—सङ्कल्प विकल्प करना छोड़ दिया और हृदय में जो ज्योति है वह भी अहङ्कार ममकार से अलग हो गई—अहङ्कार ममकार करना छोड़ दिया, मैं अपनी इस स्थिति को क्या कहूं ? क्या मानूं ?

परमात्मसङ्गति के लिए प्रत्याहार अनिवार्य योगाङ्ग है क्योंकि "प्रत्यगात्मनमैक्षदावृतचक्षुः" (कठोप० २। १। १) अन्दर से आत्मा परमात्मा को देखता है आवृतचक्षु बन कर आंखों को ढक कर इन्द्रियों को बाहिर से बन्द करके।

यह ठीक है प्रत्याहार से बाहिर से इन्द्रियों के विषय चित्त अन्तःकोष्ठ में न जावेगा, परन्तु जो पहिले के इन्द्रिय विषय संस्कार अन्दर चित्त में घुसे बैठे हैं चोर की भांति उन्हें कैसे निकाला जावे। सो गृहपति की वाणी का फटकार चोर को मिलता है अरे मैं जाग रहा हूं तू यहां घुस कर बैठा है यह दिया जाना साथ ही निज भृत्य से पकड़वाना, पुलिस का दण्डा और जेलियों द्वारा कालकोठरी का आजीवन वास उसके लिये जैसे होता है ऐसे ही स्वामी आत्मा के वैराग्य की फटकार तथा धारणा का दण्डा ध्यान की पकड और समाधि से काल कोठडी में आजीवन वास करा देता है। अब इन धारणा, ध्यान, समाधि का वर्णन करते हैं।

धारणा—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥

(योग० ३। १)

चित्त का किसी स्थान में बन्ध करना–बान्धना–बिठा देना–रख देना–लगा देना धारणा है।

ध्यान—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥

(योग० ३ । २)

उस स्थान पर प्रतीति–अनुभूति की एक प्रवाहता–एकरसता ध्यान है।

समाधि—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥

(योग० ३ । ३)

वह ध्यान ही जब ध्येय वस्तुमात्र प्रतीति हो और अपने सम्बन्ध में कुछ भी कल्पना न हो कि मैं इस वस्तु का ध्यान कर रहा हूं किन्तु अपनें ध्याता का सङ्कल्प भी न आ रहा हो, उसी ध्येय वस्तु में निमग्न हो जाना समाधि है।

इन तीनों को दृष्टान्त से ऐसे समझें कि—

चित्त चञ्चल है छोटे बालक के समान जैसे छोटा बालक कभी आटे में हाथ डाले कभी जल में कभीं अन्य वस्तुओं में, माता को रोटी नहीं पकाने देता तब माता उसे पालने में रख बान्ध देती है। जब कुछ बड़ा बालक होजावे तो उसे गुडे गुड़िया खेल खिलौना देकर उसका ध्यान उधर लगा देती हैं और जब अधिक बड़ा होजावे तो उसे एक तखती लिख लिख भर देने या पुस्तक के एक दो पन्ने रटने में जुटा देती हैं तो उससे पीछा छुड़ा लेती हैं। या जैसे कोई विद्यार्थी

अपने विद्याविषय को समझने के लिये किसी एकान्त स्थान पर शरीर को धर देता है बिठा देता है, पुनः पुस्तक में से विद्याविषय को पढ़ने लगता है उस समय स्थान की उपेक्षा होजाती है पश्चात् विद्या-विषय को अपने अन्दर बिठा लेता है तब पुस्तक की उपेक्षा होजाती है विद्याविषय अन्दर बैठ जाने पर वह उसमें तन्मय होजाता है।

समाधि के दो प्रकार—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥

(योग० १ । २)

चित्त सर्थात् मन की वृत्तियों–धाराओं–तरङ्गों का निरोध अर्थात् एक स्थान पर रोक देना लगा देना एकाग्र कर देना तथा सर्वथा विगूढ़—अन्तर्लीन—विलुप्त कर देना योग है। व्यासभाष्य में यह आशय दिया है "सर्वशब्दाग्रहणात् सम्प्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते" (व्यासः) यहां सूत्र में "सर्वशब्द नहीं रखा है कि "सर्ववृत्तिनिरोधः" अतः चित्त के एकवृत्ति होजाने पर एकाग्र होजाने पर भी सम्प्रज्ञात समाधि योग कहा जाता है।

इस प्रकार समाधि के दो भेद हुए, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। इन्हें क्रमशः एकाग्र समाधि और निरोध समाधि, सबीज समाधि और निर्बीज समाधि, सवस्तुकसमाधि और निर्वस्तुक समाधि, सालम्बन समाधि और निरालम्बन समाधि भी कहते हैं। इसमें सुबोधार्थ तालिका प्रस्तुत करते हैं—

१–एकाग्र समाधि	निरोध समाधि
२–सम्प्रज्ञात समाधि	असम्प्रज्ञात समाधि

३—सस्वतुक समाधि	निर्वस्तुक समाधि
४—सबीज समाधि	निर्बीज समाधि
५—सालम्बन समाधि	निरालम्बन समाधि

एकाग्र समाधि में कोई एक वस्तु होती है उस एक वस्तु का विशेष ज्ञान होने से यह सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है वही सवस्तुक समाधि कहलाती है वस्तुवाली होने से, यही सबीज समाधि है, उसमें व्युत्थान का बीज होने से, वही सालम्बन समाधि है, इसमें आलम्बन (सहारा) होने से। दूसरी निरोध समाधि है जिसमें सर्वथा निरोध होता है एकाग्र से भी आगे बढ़ी हुई होने से, इनमें कुछ भी ज्ञान न होसे से यही असम्प्रज्ञान समाधि, वस्तु प्रतीति न होने से निर्वस्तुक, आलम्बन न होने से निरालम्बन समाधि कहलाती है। सम्प्रज्ञात समाधि मनोविज्ञान का क्षेत्र है समस्त ज्ञानविशेष, सुख और योगसिद्धियां इसी पर निर्भर हैं और असम्प्रज्ञात समाधि आत्मविज्ञान का क्षेत्र है इसमें आत्मा के द्वारा परमात्मा का सत्सङ्ग और उसका आनन्द प्राप्त होता है।

सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद हैं—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥

(योग० १।१७)

व्यासभाष्यानुसार इनका स्वरूप है स्थूलवस्तु के आधार पर हुई समाधि वितर्करूपानुगम समाधि, सूक्ष्मवस्तु के आधार पर हुई समाधि विचाररूपानुगम समाधि, अतिसूक्ष्म—अव्यक्त (प्रकृति) पर

समाधि आनन्दरूपानुगम समाधि* और अस्मिता अर्थात् आत्मा की अहङ्कारानुभूति के आधार पर हुई समाधि आस्मितारूपानुगम समाधि है+ । इनसे आगे असम्प्रज्ञात समाधि है।

असम्प्रज्ञात समाधि—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥

(योग० १ । १८)

उक्त वितर्करूपानुगम, विचाररूपानुगम, आनन्दरूपानुगम और अस्मितारूपानुगम समाधियों का अभ्यास करके निरोध संस्कारयुक्त जो विराम प्रतीति है वह अन्य समाधि अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि है इसमें अस्मिता का भी निरोध होता है।

असम्प्रज्ञात समाधि में अभ्यास काम नहीं करता है किन्तु वह तो सम्प्रज्ञात तक रहता है अतएव कहा है अभ्यासपूर्वः' अभ्यास जिसके पूर्व होचुके—अभ्यासों के अनन्तर। इसका उपाय तो वैराग्य है जैसा व्यासभाष्य में कहा है "तस्य परं वैराग्यमुपायः सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पते" अर्थात् उसका—

---

* अव्यक्त-प्रकृति का नाम आनन्द है, जब मनुष्य मूल में पहुंच जाता है तो कहता है। अब आनन्द आया "आनन्दो ह्लादः", "ह्लादी सुखे च अव्यक्ते च"।

(धातु पाठः)

"सुषुप्तस्थानः···आनन्दभुक्"।

+ "एकात्मिका संविदस्मिता" (व्यास) "एकात्मप्रत्ययसारं··"

(माण्डूक्यो)

असम्ज्ञात समाधि का उपाय पर वैराग्य है क्योंकि अभ्यास आलम्बन पर आश्रित है उस असम्प्रज्ञात समाधि के लिये वह समर्थ नहीं है।

असम्प्रज्ञात में आत्मा के अनात्म आश्रय छूट जाते हैं। यह उनसे छूट जाता है और अपने रूप में आता है उस समय परमात्मा इसका आधार अनिवार्य हो जाता है उस समय यह स्थूल, सूक्ष्म, अव्यक्त और अहं अन्तःकरण के चार घेरों से निकल जाता है जैसे वितर्करूपानुगम से लागे बढ़ जाने पर विचाररूपानुगम सूक्ष्माधार वाली समाधि के अभ्यास से स्थूल घेरे से विमुक्त होजाता है, विचार-रूपानुगम से आगे आनन्दरूपानुगम अव्यक्ताधार समाधि के अभ्यास से सूक्ष्म घेरे से विमुक्त होजाता है, आनन्दरूपानुगम से अस्मिता-रूपानुगम अहम्मन्यतारूप अहं अन्तःकरणाधार समाधि के अभ्यास से अव्यक्त घेरे से विमुक्त होजाता है, अस्मितारूपानुगम से आगे असम्प्रज्ञात निर्वस्तुक निरालम्बन समाधि के सेवन से अहम्मन्यता-मय अहङ्कार घेरे से विमुक्त होजाता है। उस समय अपने रूप में परमात्मा के आश्रय पर होजाता है यह ऐसी बात है जैसे एक यात्री मनुष्य चार घेरों में घिरा पड़ा है, उसका सबसे बाहिरी या प्रथम घेरा ईंटों का बना घर है, उस के अन्दर या दूसरा घेरा कांच की भित्तियों का घर है, उसके भी अन्दर या तीसरा घेरा वस्त्रपट्टों परदों का आवरण है, उसके भी अन्दर या चौथा घेरा ओढी हुई चादर का है। इन चारों घेरों को तोड़कर फोड़कर मोड़कर रोड़कर (सिकोड़कर) हटादे तो इनसे विमुक्त हुआ भूतल के आश्रय रहेगा एवं यहां भी भूतलसमान परमात्मा असम्प्रज्ञातसाधि का सम्पादन

करने वाले योगी का आश्रय अनिवार्य है। उस समय ब्रह्मानन्द या मोक्षानन्द का लेनेवाला वन जाता है। सखा, सखा के साथ जैसे विहार करता है ऐसा परमात्मा के साथ आनन्दसम्बन्ध बन जाता है, वेद में उसका चित्र खींचा है—

आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत् समुद्रमीरयाव मध्यम् ।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम् ॥

(ऋ० ७।८८।३)

जबकि मोक्षपदवीरूप नौका में मैं और मेरा परमात्मा चढ़ गए–वह तो प्रथम से ही चढ़ा हुआ था उसके नित्यमुक्त होने से मुझे भी जब उसने उपासना एवं असम्प्रज्ञात समाधि के पुरस्कारप्रदानार्थ साथ चढ़ा लिया तो हम दोनों उस नौका को संसारसागर के वक्षःस्थल पर उसके ऊपर चलाने लगे जहां की तरङ्गों के साथ उस पर अवगाहनरूप क्रीड़ा मोज करते हैं तो ऐसा लगता है कि हम दोनों सुन्दर झूले में आनन्द का झूलना झूलते हैं कभी परमात्मा अपनी ओर तरङ्ग पर झूला लेते हों कभी मैं अपनी ओर झूला लेता हूं कभी वह मुझे अपने मुक्तिधाम में खींचता है और कभी मैं अपने हृदयसदन में उसे आमन्त्रित करता हूं।

उत्तम स्थली

मानव के अन्दर सुख एवं आनन्द की आकांक्षा या इच्छा रहती है, इच्छा होती है अप्राप्त की। इससे स्पष्ट है आत्मा सुखस्वरूप वा आनन्दरूप नहीं है, यह जैसे सत्य है ऐसे ही यह भी सत्य है कि आत्मा दुःखस्वरूप भी नहीं है क्योंकि उसकी यह भी इच्छा रहती है कि दुःख प्राप्त न हो। जैसे सुख बाहिर से प्राप्त होता है ऐसे ही दुःख भी बाहिर से प्राप्त होता है। दुःख तीन प्रकार का है आघातदुःख रोगदुःख और शोकदुःख।

आघात दुःख—हाथ में फांस या सूई चूभने से दुःख, चाकू छुरा लगने से दुःख, दण्डे से दुःखः कहीं शिर टकरा जाने से दुःख, वृक्ष या मकान से गिर जाने पर दुःख, बिच्छू सर्प के काट जाने से दुःख होता है यह सब दुःख आघातदुःख है बाहिर से प्राप्त होता है।

रोगदुःख—

किसी ने एक चूर्ण दिया लो यह चूर्ण इससे शौच खुल कर आ जाता है, उसे हथेली पर लेकर फांक लिया जब फांका तो आंखों में गिर पडा, आंखों में पीडा, नाक में गया छींकें निरन्तर आने

लगी मुख भी कडवा तीखा हो गया, उदर में भी पीड़ा से लगे विरेचन, यह रोगदुःख अपितु नाना प्रकार के अधिक भोजन अध्यशन अपथ्य भोजन दुष्पच भोजन खाकर नाना प्रकार के रोग उदररोग कालान्तर में यकृत् प्लीहा के रोग कासश्वासरोग यक्ष्मा-रोग हृदयरोग शिरोरोग कर्णरोग नेत्ररोग आदि अगणित रोग दुःख अन्यथा खान पान अन्यथा व्यवहार के सेवन से बाहिर से आ जाते हैं।

शोक दुःख—

कुछ धन गुम जाने से दुःख, चुर जाने लूट लिये जाने से दुःख, घर को आग लग जाने से किसी सम्बन्धी के मर जाने से शोकदुःख होता है यह भी बाहिर से ही होता है।

सुख भी बाहिर से होता है खाने आदि की अनुकूल वस्तुओं के खाने पहिनने आदि से ही तो मिलता है।

इसप्रकार आत्मा स्वतः सुखदुःख से रहित है। बाहिर प्राकृतिक जगत् या प्रकृति के सम्पर्क में सुख और दुःख तथा मृत्यु रहता है परन्तु मानव की आकांक्षा है दुःख न पाऊं सुख और आनन्द प्राप्त करूं और मैं न मरूं अमर हो जाऊं यह आकांक्षा सब की है, स्वाभाविक है इसका भी कोई स्थान अवश्य है वह है परमात्मा, परमात्मा आनन्दस्वरूप है आनन्द का दाता है। आत्मा में लगाव का धर्म है, वेद में कहा है—

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥
(अथर्व० १०।८।२५)

अपना आत्मा बाल से भी सूक्ष्म है परमात्मा नहीं दीखता जैसा है, इन दोनों में परिष्वङ्ग लगाव रखने वाली मेरी प्यारी देवता आत्मा है।

लगाव के लिये दो वस्तु इसके सम्मुख हैं परमात्मा और प्रकृति (प्राकृतिक जगत्), लगाव सुखप्राप्ति के लिए करता है और प्रथम लगाव प्राकृतिक जगत् से करता है, क्योंकि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

(कठो० २।१।१)

परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है इससे बाहिर की ओर देखता है।

नासिकाद्वारा बाहिर से गन्ध में सुख प्राप्त होता है तो किसी गन्ध से दुःख भी शिरःपीडा मूर्च्छा तक, सुगन्ध की वस्तुएं कम दुर्गन्ध की अधिक हैं अतः गन्धवाली वस्तुओं से दुःख अधिक। जिह्वा से रसीली वस्तु से सुख जैसा मीठा दशहरी आम पर कच्चा पक्काजैसा खट्टा लगता है चूसने योग्य आम मीठा भी खट्टा भी बहुत मिलता है चरपरे कषैले कडवे और विषभरे भी दुःखदायक फल हैं जो सुखप्रदों की अपेक्षा अधिक हैं ऐसे रूपवाले पदार्थ भी आंखों को सुख देते हैं तो बीभत्स, भयानक और आंखों में चुभने, जलन करने वाले दुःखदायक बहुत हैं, स्पर्शवाले अनुकूल भी और स्पर्श में प्रतिकूल भी बहुत हैं, काण्टे खुजली करने वाले गर्मी में गर्म स्पर्श ठण्डी में ठण्डा स्पर्श दुःख देता है। कानों से सुखद शब्द

श्रौर दुःखद शब्द निज निन्दा श्रपशब्द (गाली) श्रौर कानफोड़ देने वाला तक शब्द होता है, सुख कम श्रौर दुःख बहुत श्रधिक जगत् में है । इस प्रकार संसार दुःखबहुल है श्रौर जो सुख है भी वह भी दुःख से मिश्रित है विद्वान् जन उसे भी दुःख ही समझते हैं* क्योंकि—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥

(योग० २ । १५)

भोगों को भोगने से इन्द्रियों की तृप्ति नहीं होती किन्तु प्रवृत्ति या श्रभ्यास बढ़ता ही जाता है इन्द्रियों में विकलता व्याकुलता बढ़ती है यह परिणाम दुःख है । भोग की प्राप्ति में शरीर; वाणी श्रौर मन से दौढ़ धूप कर, थकावट दुःख को सहता है वह ताप-दुःख है । श्रनुकूल में राग संस्कार, प्रतिकूल में द्वेष संस्कार बैठ जाता है जिससे श्रनुकूल का संरक्षण प्रतिकूल का संहार करने को प्रवृत्ति होती हैं यह संस्कारदुःख है । पुनः चित्त में सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण के वर्तमान रहने से उनमें प्रधानभाव श्रौर गौणभाव केविरोधी उथल पुथल से भी सब दुःख ही है विवेकी–ज्ञानी ध्यानी के लिये ।

श्रात्मा स्वरूपतः जैसे ही सुखस्वरूप या श्रानन्दरूप नहीं वैसे ही दुःखस्वरूप भी नही है फिर यह दुःखों को प्राप्त क्यों होता है

---

* तदपि दुःखशबलं दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः ॥
(सांख्य० ३ । ८)

इसका कारण है पञ्च क्लेश*—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥
(योग० १। ३)

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश। ये पांच क्लेश अर्थात् दुःखप्राप्ति के कारण हैं*।

अविद्या—अनित्य में नित्यदृष्टि, अपवित्र में पवित्र दृष्टि, दुःख में सुख दृष्टि और जो अपना नहीं उसमें अपनेपन की दृष्टि रखना। अनित्य वस्तु जिसे मनुष्य अपने पास नित्य बनी रहनेवाली समझता है जब उसमें ह्रास होते देखता है तो दुःख मानता है और उसके नष्ट हो जाने पर तो महान् क्लेश समझता है, उसके सङ्ग से हुआ चिरकाल का भी सुखसंस्कार तो क्षणभर में हवा में काफूर हो जाता है परन्तु अनित्यता का स्वरूप सामने आ जाने पर महादुःख का शैलशिखर शिर पर गिर जाने से अन्तःस्थल चकनाचुर हो जाता है। धन आदि तो क्या पृथिवी चन्द्र सूर्य आदि भी नित्य नहीं है अपितु संसार भी नित्य नहीं किन्तु अनित्य है। अपवित्र देह में पवित्र दृष्टि रखना जिसके बाहिर भी मलसम्पर्क और अन्दर तो मल ही मल से भरपुर है शोधते शोधते ही मनुष्य अपनी देह को सर्वथा निर्मल कर नहीं सकता जिसे शोधने की आवश्यकता सदा बनी रहती है ऊपर के छिद्रों से मल नीचे के छिद्रों से मल आता रहता है और उनके अन्दर सटा रहता है त्वचा में से भी पसीना और दुर्गन्ध तथा मुख नाक से दुर्गन्ध सदा आती रहती है फिर उसे पवित्र

* क्लिश्नन्तीति क्लेशाः।

समझ प्यार करता है अनेक रोगदुःख और मोहदुःख तो प्राप्त होता ही है साथ ही जब इसका अपवित्र स्वरूप सम्मुख आता है अथवा उसका मल अपने मुख तक मैं आ जाता है तो महती ग्लानि हो जाने से भारी दुःख होता है। दुःख में सुखदृष्टि, विषयों के सेवन में चिरकालीन दुःख है परन्तु क्षणिक सुख के होने से उसे सुख समझता है परन्तु वासनासर्प से निरन्तर काटा जाना पसन्द करता है यह दुःख ही तो है और उस एक इन्द्रिय के सुख में भी तो शारीरिक ताप और मानसिक सन्ताप ही है। उसके दुःखद स्वरूप को कभी न कभी तो सामने आना ही है फिर तो गहन दुःखसागर में डूबकर दुःख पाना ही पड़ेगा। जो अपना नहीं उसमें अपनेपन की दृष्टि रखना उसमें अपने पन की आशा रखना उस पर अपने भविष्य को निर्भर रखना। उसके नाश में अपना नाश मानता है तथा उससे जब नाता टूटता है उसके कुटिल आचरण से या अपने अनुकूल न होने से या उसके मृत हो जाने पर या अपने मृत हो जाने पर तो भारी असह्य दुःख उठाना पडता है, जब पराए होने का स्वरूप दिखलाता है तो पश्चात्ताप होता है पराया बन कर शिर फोडता है प्राण तक ले लेता है या उसके वियोग से मानव स्वयं अपना शिर फोडता है आत्महत्या तक कर बैठता है।

अस्मिता—शरीर से भिन्न सत्ता आत्मा है, आत्मा के निकल जाने पर शरीर निश्चेष्ट हो जाता है, शरीर तो आत्मा का घर है रहने की कोठी है। परन्तु शरीर को ही मैं समझ लेना "शरीरमेवाहमस्मि" उसके व्यथित होने पर अपने को भी व्यथित करना

प्रतिकूलता में हाय हाय करना एवं शरीर के ही बनाव श्रृङ्गार में अपने को अलंकृत और कृतकृत्य मानना किन्तु आत्मकल्याण का ध्यान न आना।

राग—सुख या सुखसाधक वस्तु में अभिरुचि—प्रेम रखना उसकी प्राप्ति में यह अपने को जहां तहां दौड़ाता है पिटवाता है अपमानित कराता है।

द्वेष—दुःख या दुःखदायक प्रतिकूल वस्तुओं के प्रति क्रोध रखना उनके नाश को सोचना और नाश के यत्न में लगे रहना यह भी आत्मा को अनेक अशान्तियों में डालता है दुःख पहुंचाता है।

अभिनिवेश—शरीर में सदा बने रहने की आकांक्षा करना "मैं न मरूं" मृत्यु का भय सदा बने रहना सब दुःखों का दुःख है।

ये पांच क्लेश हैं जो मानव को सदा दुःख देते रहते हैं। इनके होने से सब दुःख अर्थात् सुखमिश्रित दुःख और केवल दुःख अर्थात् आघात रोग शोक रूप दुःख मानव को प्राप्त होते हैं। इन अविद्या आदि पांच क्लेशों को निर्बल करने और सर्वथा समाप्त करने के लिए आगे अभ्यास प्रकरण में आनेवाला क्रियायोग और ध्यानयोग है*। आत्मा के अन्दर लगाव करने का धर्म है। प्रकृति (प्राकृतिक

---

* तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।
(योग० २ । १)

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥
(योग० २ । २)

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ (योग० २ । ११)

जगत्) से लगाव करने में दुःख है जो कि अविद्या आदि पांच क्लेशों के कारण होता है और परमात्मा के साथ लगाव करने में नितान्त सुख या आनन्द है क्योंकि परमात्मा सुखस्वरूप या आनन्दरूप है जैसा कि वेदों, उपनिषदों और दर्शनों में कहा गया है—

कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि·····कदा मृडीकं सुमना अभिख्यम् ॥

(ऋ० ७ । ८६ । २)

मैं अपने वरने योग्य–अपनाने योग्य तथा वरनेवाले अपनाने-वाले परमात्मा में विराजमान हो जाऊं उस सुखस्वरूप आनन्दरूप परमात्मा को कब अच्छे मन वाला होकर देख सकूं ।

नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ॥

(सांख्य० ४ । ११)

परमात्मा और आत्मा में से एक जो आत्मा है उसका आनन्द-चिद्रूपत्व–आनन्दरूपत्व और चिद्रूपत्व दोनों धर्म नही हैं अर्थात् आत्मा आनन्द और चेतन दोनों धर्मों से युक्त नहीं किन्तु केवल चिद्रूप–चेतनस्वरूप ही है आनन्दस्वरूप नहीं, दोनों धर्म आनन्द-रूपत्व और चिद्रूपत्व–चेतनत्व तो परमात्मा में ही है, परमात्मा ही चेतनस्वरूप और आनन्दस्वरूप है। आत्मा और परमात्मा दोनों चेतनस्वरूप हैं परन्तु परमात्मा में आनन्दरूपत्व अधिक होने से वह आत्मा से भिन्न है, आत्मा आनन्द की आकांक्षा करता है अतएव वह स्वतः आनन्दस्वरूप नहीं है हां ! आनन्दस्वरूप परमात्मा के समागम से आनन्द प्राप्त करके वह आनन्दी–आनन्दवान् बनता है, जैसा कि कहा है—

रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।

(तै० उ० २ । ७)

वह परमात्मा रसरूप—आनन्दरूप है उसके आनन्द को प्राप्त करके आत्मा आनन्दी–आनन्दवान् हो जाता है।

इस प्रकार आत्मा के सम्मुख दो पदार्थ हुए एक तो प्रकृति (प्राकृतिक जगत्) जो दुःखबहुल विषयसुख होने से दुःखरूप ही है और दूसरा पदार्थ परमात्मा जो नितान्त सुखरूप होने से आनन्द-स्वरूप है। दोनों की ओर आत्मा चलता है या लगाव करता है मन के द्वारा, विषयसुख को चाहता हुआ प्रकृति (प्राकृतिक जगत्) से लगाव कर आत्मा बन्धन में पडता है और परमात्मा से लगाव कर बन्धन से छूट कर निर्बन्धन–मुक्त हो जाता है ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है—

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥

(मैत्र्यु० मैत्रायणी० ६ । ६, १०)

मन दो प्रकार का कहाहै शुद्ध और अशुद्ध, कामनावाला–विषय-सुख कामनावाला—भोगकामवासनावाला तो अशुद्ध कहा है और कामवासनारहित शुद्ध मन है। मन ही मनुष्यों के बन्ध—संसार में बन्धन का कारण है और मन ही मोक्ष का कारण है। विषयों में

फंसा हुआ मन बन्धन के लिए और विषयों से रहित मन मुक्ति के लिए कहा हैं।

कठोपनिषद् में कहा है—

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥
(कठो० २।२।१)

अवक्रचेताः—शुद्ध स्थिर निरुद्ध मनवाले अजन्मा-नित्य आत्मा की ग्यारह द्वारोंवाली नगरी है यह देहपुरी जिसका राजा आत्मा है। इस देहपुरी का यह आत्मा राजा या स्वामी संयत मन से इसका अनुष्ठान करता है तो यह इस देह से मुक्त होजाता है, विमुक्त होकर कामशोक को प्राप्त नहीं होता।

देह को ग्यारहद्वारोंवाली नगरी का अलङ्कार इसके स्वामी आत्मा के लिये दिया गया है, इस नगरी का सदुपयोग करते हुए यह आत्मा अभ्युदय और निःश्रेयस को सिद्ध करता है तथा शुद्ध-निरुद्ध मनवाला होकर मुक्त हो परमात्मसत्सङ्ग एवं ब्रह्मानन्द को पाता है। इस अलङ्कार को हम कल्पना की भाषा में या विचारधारा में निम्न रूपक देते हैं—

एक राजा की नगरी है, नगरी है गोलाकार और परकोटे से युक्त। नगरी में या कहिए उसके परकोटे में ग्यारह द्वार लगे हुए हैं, दस द्वार तो परकोटे की भित्ति में बाहिरी मुखवाले हैं परन्तु एक द्वार ग्यारहवां परकोटे के अन्दर अन्तर्मुख उन दस द्वारों से अलग किन्तु उनकी वस्तुओं को समय समय पर लेकर अपने अन्दर से

नगरी के राजा तक पहुंचानेवाला है और वह चलद्वार है, बाहिर के दश द्वार तो परकोटे में स्थिर हैं किन्तु यह अन्दरवाला ग्यारहवां द्वार अन्दर ही अन्दर चलता है और वारी वारी से या आवश्यकतानुसार समय समय पर बाहिरी द्वारों में से एक एक द्वार के साथ अन्दर युक्त होकर बाहिरी वस्तु को अन्दर स्वामी के पास प्रेरित करने के लिये उसका चित्र ले उसे दिखाता है यह दर्पणद्वार है यह खुला न होता हुआ पारदर्शक है। नगरी का राजा अपने अन्तःपुर कहिए अन्तःकोष्ठ में विराजमान है। बाहिरी वस्तु का किसी एक बाहिरी द्वार से अन्दर का दर्पणद्वार आभास लेकर अन्दर राजा तक पहुँचाता है उसे राजा देखता है देखकर अनुकूल या अभीष्ट को अन्दर आने को और प्रतिकूल या अनभीष्ट को बाहिर ही धक्का देने के लिये प्रेरणा करता है पुनः वह अन्दर का दर्पणद्वार अनुकूल या अभीष्ट को राजा तक पहुँचाता है और प्रतिकूल या अनभीष्ट को धक्का देकर बाहिरी द्वार की ओर उलटे पैरों बाहिर निकाल देता है। वह अन्दर वाला द्वार यद्यपि दर्पण पट्ट से पूरा हुआ है परन्तु उस दर्पण पट्ट में ऐसी युक्ति या शक्ति है कि अन्दर प्रविष्ट होनेवाले को अपने में से पार कर देता है।

बाहिरी दश द्वारों में पृथक् पृथक् द्वार अपने अन्दर से अपनी अपनी विशिष्ट विशिष्ट वस्तु को ही प्रविष्ट होने देते हैं जिस जिस के लिये वह नियत हैं। जैसे एक द्वार गन्ध या गन्धवाले को प्रविष्ट होने के लिये हैं उसमें वह ही प्रवेश कर सकेगा अन्य रस-रसवाला या रूप-रूपवाला आदि प्रवेश करना चाहेगा तो उसके लिये

वह द्वार खुला हुआ भी बन्द ही रहेगा अपितु उसमें कुछ ऐसी युक्ति विद्युद्युक्ति (विजली का फिटिंग) है कि अन्य विषय या अन्यविषय-वाले को बाहिर की ओर धकेले जाने का धक्का लगता है उसमें से अन्दर नहीं आ सकता। ऐसे ही रस या रसवाले के प्रवेशार्थ दूसरा द्वार है उससे वही अन्दर प्रविष्ट हो सकता है गन्धवाले रूपवाले आदि नहीं प्रविष्ट होसकते, रूपवाले द्वार से रूपवाले ही प्रवेश करेंगे अन्य गन्धवाले रसवाले स्पर्शवाले आदि नहीं, स्पर्शवाले द्वार से स्पर्शवाले ही प्रवेश करेंगे शब्दवाले आदि नहीं और शब्दवाले द्वार से शब्द या शब्दवाले गाने बाजे या गाने वजाने सुनानेवाले ही प्रवेश पा सकेंगे गन्धवाले आदि नहीं इत्यादि व्यवस्था जानें। वे गन्धवाले आदि पदार्थ भी अपने अपने नियत द्वार से भी तब अन्दर जासकेंगे जबकि उस उस विषय के बाहिरी द्वार के साथ अन्दरवाला चल दर्पण द्वार युक्त हो जावे क्योंकि बीच में गहरी खाई है और अन्दर वाला चल दर्पणद्वार अन्दरवाले एक लोहमय अर्धगोलाकार स्तर (घेरे) में लगा हैं उससे युक्त चलते हुए दर्पण द्वार पर गन्ध रसरूप आदि का आभास पड़ जाता है उस आभास को वह दर्पण द्वार नगरी के राजा को दिखलाता है पुनः अभीष्ट के आने की अनुमति पर दर्पणद्वार का पादपट्ट (प्लेटफार्म) बाहिरी द्वार से मिल जाने पर प्रवेश करनेवाला अन्दर प्रविष्ट होजाता है और जिसे राजा नहीं चाहता उसके आभास को देख निषेधादेश देता है दर्पणद्वार उसे उलटे पैरों धकेल बाहिरी द्वार से बाहिर कर देता है।

इस अन्दरवाले दर्पणद्वार में यह भी शक्ति या धर्म है कि

बाहिरवाले गन्ध रसरूप स्पर्श शब्दवाले पदार्थों का नगरी के स्वामी को साक्षात् भी कराता है और अपने अन्दर उनके चित्र भी खींच कर रख लेता है, जिन्हें नगरी के राजा को रात्रि में भी यथावत् और अयथावत् रूप में दिखलाता रहता है क्योंकि यह चलद्वार है रात्रि में यद्यपि बाहिरी द्वारों के सम्मुख चल चलकर न आता हुआ भी विद्युद्दीप्र (बिजुली के बल्भ) के सम्मुख तो आता ही है सीधे सरल चलते हुए आने से अपने ऊपर अङ्कित सीधे सरल पूरे चित्र मनुष्य पशु पक्षी को दिखलाता है और टेढ़े चलते हुए या कहीं से कहीं चले जाते हुए पशु पक्षीं को पशु के सींग को दिखाकर मनुष्य पर दौड़ सींगवाले मनुष्य आदि को दिखलाता है। दर्पणद्वार चित्रों से भरा रहता है वह चलता हुआ प्रकाशमय विद्युद्दीप्र (बल्भ) के साथ सङ्गत हो अपने भिन्न भिन्न स्थानों के भिन्न भिन्न चित्र सीधे और अन्यथा रूप में भी दिखलाता रहता है।

जब नगरी का राजा इस दर्पणद्वार से बाहिरी द्वारों वाली वस्तुओं को न दिन में देखना चाहता है और न रात्रि में देखना चाहता है तब इस पर्पणद्वार की दिशा बाहिरीद्वारों से हटकर महान् आकाश की ओर होजाती है फिर यह आकाश के दिव्यदर्शन कराता है और दिव्य दृश्यों के स्वामी का सक्षात् कराता है तथा इस नगरी के राजा को अपने अन्दर से बाहिर मुक्त कर दिव्यस्वामी के साथ बिठला देता है उसके अपार आनन्द में निमग्न कर देता है।

पाठक समझ गए होंगे उक्त दृष्टान्त में नगरी देह, नगरी के बाहिरी दश द्वार है दश इन्द्रियां अपने अपने गन्ध आदि विषय को

अपने अपने अन्दर से प्रविष्ट करानेवाली, चल दर्पण द्वार है मन, यह जिस इन्द्रिय से युक्त होता है उसके विषय का आभास लेकर राजा आत्मा को दिखलाता है पुनः आदेश होने पर उस तक पहुंचाता है। दिन के अतिरिक्त रात्रि में स्वप्न में दिखलाता है। इन्द्रियों के विषयों से विरक्त हुए आत्मा को अनेक दिव्यदर्शन और परमात्मा का साक्षात्कार कराता है मुक्ति में पहुंचाता है अतएव मन बन्धन और मोक्ष का कारण है।

तथा—

ममेति च भवेन्मृत्यु र्न ममेति च शाश्वतम्।

(महाभा० आश्वमेधिक० अ० ५१। २९)

संसार में ममत्व करना यह मेरा है वह मेरा है का विस्तार वस्तुतः मृत्यु है—आत्मघात है क्योंकि जिनमें ममत्व करता है उनके नाश के साथ अपने को भी नष्ट हुआ मानता हैं हाय मैं मरा कहते हुए कभी कभी हृद्गतिभङ्ग होकर अकाल मृत्यु के मुख में चला जाता है ही जीते हुए भी अशान्त बना रहता है परन्तु अपने अमर स्वरूप की अनुभूति नहीं कर पाता है। ममता संसार में न करे तो शाश्वत—सदा वर्तमान—अनश्वर—अमर परमात्मा के साथ अपने अमरत्व को अनुभव करता जीता हुआ जीवन्मुक्त बन संसार के सदुपयोग से परम सात्त्विक सुख लाभ भी लेता है।

संसार यथायोग्य घोड़ा बनकर मानव को वहन करता है—

हयो भूत्वा देवानवहद् वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान्

(बृहदा० १।१।२)

यह संसार हयनाम का घोड़ा बनकर देवों को वाजी नाम का घोडा बनकर गन्धर्वों को अर्वा नाम का घोड़ा बनकर असुरों को और अश्व नाम का घोडा बनकर मनुष्यों को अपने ऊपर सवार कर लेजाता है।

देव, मनुष्य, गन्धर्व और असुर इन चार प्रकार के मानवों के लिवे यह संसार क्रमशः हय, अश्व, बाजी और अर्वा नाम या गुणसे से युक्त घोडा बनकर यात्रा करता है अथवा जो मानव इस संसार को हय घोड़ा समझकर यात्रा करते हैं वे देव बन जाते हैं, जो इसे अश्व नाम का घोडा समझकर यात्रा करते हैं वे मनुष्य बन जाते हैं, जो इसे बाजी घोडा समझकर यात्रा करते हैं वे गन्धर्व होजाते हैं और जो इसे अर्वा घोड़ा समझकर यात्रा करते हैं वे असुर हो जाते हैं।

सो कैसे यह देखें—

देवों की ब्रह्ममीमांसा और मनुष्यों की धर्ममीमांसा होती है, गन्धर्वों की भोगप्रवृत्ति और असुरों की उपद्रव-प्रवृत्ति हुआ करती है। अतएव देवों के लिये यह संसार हय अर्थात् ब्रह्म की ओर प्रेरित करने वैराग्य दिलाने वाला* घोडा बन जाता है उन्हें ब्रह्म तक पहुंचा देता है मोक्षधाम में लेजाता है या देवजन इसे हय के रूप में देखते समझते हैं वे संसार के एक एक भाग पत्ती पत्तों फूल फलों जीव शरीरों नदी सोतों झीलसमुद्रों गिरिपर्वतों ग्रहतारों में ब्रह्म की रचनाकला द्वारा ब्रह्ममीमांसा–ब्रह्मविवेचनाब्रह्मचिन्तना किया करते हैं। मनुष्यों के लिये यह संसार अश्व अर्थात् धर्मपूर्वक निरन्तर मार्ग

* "हि प्रेरणे" (चुरादि०) "हय क्लमे" (कविकल्पद्रुमः)

पर चलता हुआ यात्रा कराता रहता है—अच्छे जन्म जन्मान्तरों में लाता लेजाता है+ या मनुष्यजन इसे अश्व के रूप में देखते समझते हैं, संसार में आकर धर्म करना चाहिये जिससे मनुष्यजीवन का सुफल प्राप्त कर सकें इस प्रकार वे धर्ममीमांसा किया करते हैं। गन्धर्वों—भोगविलासी जनों के लिये× यह संसार वाजी अर्थात् खानपान भोगविलास की ओर ले जानेवाला= भोगप्रवृत्ति करानेवाला घोडा बनकर भोगविलासों की ओर ले जाता है वा गन्धर्व भोगविलासी जन इसे वाजी के रूप में देखते समझते हैं कि संसार तो भोग विलास के लिये ही है ऐसा मान भोगविलास में रत हुए घूमते फिरते है। असुर जनों–अपने प्राणों से प्यार करनेवाले अन्यों के प्राण लेकर जीनेवाले जनों के लिये यह संसार अर्वा अर्थात् हिंसाकारक* घोड़ा—दुलतियां जड़नेवाला जहां तहां धर-पटकनेवाला बनकर विषम अयोग्य स्थानों में विकटगति से दौडता दौड़ाता भटता रहता है या असुर जन इसे अर्वा के रूप में देखते समझाते हैं संघर्षस्थान मानते हैं निरन्तर उपद्रव संघर्ष रचाते मत्राते रहते हैं अशान्ति फैलाते रहते हैं स्वयं दुलतियां खाते हैं अन्यों को हताहत करते कराते रहते हैं ये ऐसे जन अतिनीच हैं।

इस प्रकार—

+ "अश्वः कस्मादश्नुतेऽध्वानम्" (निरुक्त० २।२७)
× "स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः" (ऐ० ब्रा० १।२६)
= "वाजी भृशमन्नवान्" (निरु० १०।२२)
* "अर्व हिंवायाम्" (भ्वादि०)

असुर जन घोड़े पर चढ़ अन्धाधुन्ध दौड़ाता है स्वयं दुलतियां खाता अन्यों को कुचलता जाता हुआ विषम स्थानों झाड़-झंकाड़ों में फंसता गिरता है। गन्धर्व जन घोड़े पर चढ़ मद्यपान कर प्रमादी उन्मत्त बनकर भोगविलास वाली गन्दी गलियों में रात दिन मारा मारा फिरता है। मनुष्य जन घोड़े पर चढ नगर की चहल पहल देखता रहता है मन बहलाता है। देवजन घोड़े पर चढ़ सुन्दर रम्य उद्यानों (बगीचों) की सैर करता हुआ फूल-पत्तियों से उनकी सुगन्ध लेता हुआ अच्छे दृश्य देखता हुआ स्वादु फलों का "आस्वादन करता हुआ अत्यानन्द लेता हुआ उसके स्वामी का धन्यवाद करता है उसका गुणगान करता है।

श्रेयौमार्ग अर्थात् अध्यात्म विषय या परमात्मा की ओर चलने का मार्ग, प्रेयो मार्ग अर्थात् संसार में ही पडे रहने का मार्ग ये दोनों भिन्न भिन्न है तथा भिन्न भिन्न फल वाले हैं परन्तु दोनों ही मनुष्य को स्पर्श करते हुए उसके सम्मुख आते हैं उन मैं से श्रेयो मार्ग अर्थात् अध्यात्म या परमात्मा की ओर चलने वाले मार्ग की शरण लेने वाले का जीवन सफल होजाता है और वह कल्याण को प्राप्त करता है परन्तु जो प्रेयोमार्ग अर्थात् संसार में पड़े रहने वाले मार्ग का अवलम्बन करनेवाला है वह लक्ष्य से मानवजीवन से गिरजाता है। यह ठीक हैं दोनों मार्ग मनुष्य के सम्मुख आते हैं पर धीर जन दोनों का विवेचन करके श्रेयोमार्ग पर पदार्पण करता है उसपर यात्रा आरम्भ करदेता है परन्तु मन्द जन केवल जीने मात्र भोग

मात्र के हेतु प्रेयोमार्ग में पड़ता है * श्रेय है परमात्मा का आनन्द-प्रवाह और प्रेय है संसार का बिषयप्रवाह। कोई भी प्रवाह हो उसका अन्त नहीं होता अत एव संसार के विषयप्रवाह में अशान्ति का अन्त नहीं--शान्ति का नाम नहीं और परमात्मा के आनन्दप्रवाह में शान्ति का अन्तिम धाम नहीं--अशान्ति का काम नहीं। दोनों में तृष्णा की निवृत्ति नहीं तृष्णा बनी ही रहती है परन्तु भिन्न भिन्न रूपों में एक में अशान्तिमय अन्य में शान्तिरूप होकर, वेद ने इनका चित्र खींचा है—

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्।

(ऋ० ७।८६।४)

अपों—स्रोतों--प्रवाहों में रहते हुए मुझ जरिता को तृष्णा प्राप्त है—प्यास लगी रहती है।

'अपाम्' या 'आप': का अर्थ प्रवाहित हुए (फैले हुए) जल एवं (व्यापे हुए व्यापकरूप में वर्तमान हुए) परमात्मा है+ अतः यहां श्लेषालङ्कार से दोनों अर्थ हैं।

'जरिता' का अर्थ जरा जीर्ण जन और परमात्मा का स्तुति-

---

* अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥
(कठो० १।१।१, २)

+ "आपो वै प्रजापतिः" (शत० ८।२।३।१३)

कर्ता × । यहां भी श्लेषालङ्कार से दोनों अर्थ हैं ।

इस प्रकार दोनों शब्दों के अर्थश्लेष से मन्त्र के चार अर्थक्रम श्लेषालङ्कार से हुए जो निम्न प्रकार हैं—

१—विषयप्रवाह और जराजीर्ण (शक्तिहीन जन)

२—विषयप्रवाह और स्तुतिकर्ता (उपासक जन)

३—ब्रह्मानन्दप्रवाह और जराजीर्ण (शक्तिहीन जन)

४—ब्रह्मानन्दप्रवाह और स्तुतिकर्ता (उपासक जन)

१—जीर्णता को प्राप्त हुए भी मुझे तृष्णा-वासना बनी हुई है क्योंकि विषयप्रवाह मेरे सामने है मैं उस में वह रहाहूं भोगने में अशक्ति हो जाने पर भी मेरी तृष्णा नहीं बुझी । आह ! मैंने अन्दर विषयों का अभ्यास इतना बढा लिया कि आज जीवन के के अन्तिम क्षणों में भी विषयों की तृष्णा न मिटी उनका दास बन गया । है परमात्मन् ! में पूर्ण पश्चात्ताप करता हूं मेरे जीवन का तो अन्त हो रहा परन्तु मेरा भविष्य कल्याणमय हो ऐसी कृपा करो ।

२—परमात्मन् ! मुझ तेरे स्तोता-स्तुति कर्ता उपासक को तृष्णा लगी हुई है पान के लिये विषयप्रवाह सम्मुख वह रहा है परन्तु मैं तो प्यासा ही हूँ क्योंकि मैं इनका पान नहीं कर रहा हूं और न करूंगा, मुझे प्यासा रहना स्वीकार है । हां ! मैं यह आशा रखता हूं कि आप मेरे संयम से मेरा कल्याण कभी न कभी तो अवश्य करेंगे शीघ्र नहीं तो देर में ही मुझे अपनी शरण में लेंगे ।

× "जरिता स्तोतृनाम" (निघ० २ । १६)

३—परमात्मन् ! आप जैसे आनन्दप्रवाह मेरे सामने है परन्तु में तो प्यासा ही हूं, इस में कारण है मेरी जराजीर्णता है। मैं अपनी संयमहीनता से इस स्थिति को प्राप्त होगया या मैं इतना जराजीर्ण होगया कि आपके आनन्दप्रवाह में से पान नहीं कर सकता अपनी प्यास नहीं बुझा सकता। आप का आनन्दप्रवाह तो वह रहा है आपके प्रति आस्तिक भाव मेरे अन्दर बैठा हुआ है अन्य जनों के द्वारा सत्सङ्गों में आप का आनन्दप्रवाह दृष्टिपथ तो होता रहता है इस अवस्था में भी आप मेरा कल्याण करें यह प्रार्थना है।

४—परमात्मन् ! मैं कितना भाग्यशाली हूं कि आप की कृपा से मेरे सम्मुख आपका आनन्दप्रवाह वह रहा है और मैं स्तुतिकर्ता उपासक भी पान करने में समर्थ हूं, पान करता जाता हूं पचाता जाता हूं परन्तु आप का अनन्त अमृतपान है तो मेरा भी निरन्तर पीने में ध्यान है। क्या कहना ? न आप का अन्त पाऊं न पीते हुए अघाऊं। आपके अमृतस्वरूप की इयत्ता नहीं तो मेरी तृप्ति की भी मितता नहीं। ठीक है परमात्मन् ! यह तृष्णा बनी हुई है वसी हुई है बनी रहे वसी रहे यही याचना है इसी अतृप्ति में सच्ची तृप्ति है नितान्त शान्ति है।

मछली के दृष्टान्त में छायानुवाद—

पानी में मीन प्यासी *।

---

* लोक में वस्तु की प्रचुरता होते हुए न भोगने पर यह उक्ति प्रयुक्त होती है। भोजन सामग्रीका भण्डार भरपूर होने पर भी फिर भूखा है 'पानी में मीन प्यासी' वस्त्र बहुत है कपडे की दुकान है पर फटे वस्त्र पहनना 'पानी में मीन प्यासी' यह आश्चर्योक्ति है। परन्तु यहां आश्चर्योक्ति नहीं यहां तो कारण वश प्यासी है।

(१) पानी और मछली दोनों का दोष—

जैसे पानी खारा अनन्त है।
वैसे प्यास भी तो बे अन्त है॥
पीने से तो बढे तुरन्त है।
आवे नित्य उवासी-पानी में मीन प्यासी

(२) पानी का दोष—

बन्धु मैं हूं गंगा की मछली।
नित पीती थी पानी असली॥
यह पानी है मैला नकली।
तासे रहूं उदासी-पानी में मीन प्यासी

(३) मछली का दोष—

पीने को पानी का नहीं तोडा।
कैसे पीऊं ! मुख में है फोडा॥
पीने को जो मुख खोलूं थोडा।
उठे वेग से खांसी-पानी में मीन प्यासी

(४) पानी और मछली दोनों के गुण—

अमृत पानी यह पाती हूं।
पी पी कर अङ्ग समाती हूं॥
पीती हुई नहीं अघाती हूँ।
हुई अमृतवासी-पानी में मीन प्यासी

अभ्यास

मध्यम स्थली के अन्त में समाधि को दर्शाया गया है, यहां उस को विशेषरूप से कहते हैं। उसका शीघ्र लाभ कैसे हो ? सो देखें।

निजी तीव्र प्रयत्न से समाधी का लाभ —

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥

(योग० १ । २१)

तीव्रप्रवृत्तिवालों को शीघ्र समाधि और समाधिलाभ सिद्ध होता है। जैसे कोई विद्यार्थी अपने अध्ययन में तीव्र गति से सर्वात्मना लगा रहता है तो शीघ्र अध्ययन को पूरा करलेता है और उसका लाभ भी शीघ्र पालेता है। ऐसे ही अभ्यासी भी तीव्र गति से सर्वात्मना अभ्यास में लगजाता है तो उसकी समाधि शीघ्र सिद्ध होती है और फल भी आत्मा में शीघ्र प्राप्त हो जाता है।

समाधि और उसके फल का शीघ्र लाभ प्राप्त करने को तीव्र-गति या तीव्र प्रवृत्ति से चलना यह एक उपाय हुआ। अन्य उपाय भी हैं—

लौकिक व्यवहार से शीघ्र समाधि लाभ--

मैत्रीकरुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥

(योग० १ । ३३)

सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा, पापात्मा जनों के प्रति क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा की भावना मानस व्यवहार करने से चित्त

का प्रसादन–स्थिरी भाव होता हैं। सुखी जनों के प्रति मित्रता करने से जहां सांसारिक लाभ उनके सुख में साझा मिलता है साथ में विशेष लाभ आध्यात्मिक यह मिलता है कि सुखी जनों को देखकर प्रायः उनके प्रति मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है मित्रता की भावना करने से वह ईर्ष्या दोष मन में नहीं आता उस से रहित हो जाता है। दुःखी जनों को देख कर उनके प्रति तिरस्कार अनादर या घृणा की भावना बन जाती है उनके प्रति करुणाभाव रखने से उनका दुःख दूर होता है कभी स्वयं दुःखी हो तो अपना दुःख भी वे या अन्य दूर करेंगे ही इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक लाभ है यह कि वह अनादर या घृणा का दोष हमारे अन्दर न उठ सकेगा। पुण्यात्माओं के प्रति उपहास (मजाक) का भाव मन में आता है परन्तु उनके प्रति मुदिता–प्रसन्नता रखने से जहां सांसारिक लाभ यह होगा कि वे अधिकाधिक पुण्यात्मा बनेंगे संसारमें पुण्यप्रचारका फल मिलेगा साथ में उनके प्रति उपहास का दोष न उठ कर अपने अन्दर पुण्य गुणधारण की भावना और इच्छा उत्पन्न होगी। पापात्माओं के सम्पर्क से मन पापमय होजाता है परन्तु उनके प्रति उपेक्षा रखने से सांसारिक लाभ तो यह होगा कि वे पाप से बच सकेंगे कि लोग हमारे पापों के कारण हम से उपेक्षा करते हैं पास बैठना बिठाना ऊंचा स्थान देना पसन्द नहीं करते, आध्यात्मिक लाभ यह होगा कि उनके पापों का संक्रमण अपने मन में न होसकेगा इस प्रकार यथास्थान मित्रभाव, दया, प्रसन्नता, उपेक्षा की भावना रखने से चित्त ईर्ष्या, अनादर, घृणा, उपहास, पाप संसर्ग से रहित हो निर्दोष

बनकर मित्र भाव आदि गुणों से वासित हो अनायास स्थिर निरुद्ध समाहित होजाता है।

शरीर के द्वारा चित्त को स्थिर करना या समाधि लाभ लेना—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥

(योग० १ । ३८)

अथवा स्वप्नज्ञान तथा निद्राज्ञान–गहरी नीन्द के ज्ञान अर्थात् अनुभूति का आलम्बन-सहारा जिस चित्त में हो वह भी स्थिति को प्राप्त होजाता है उससे भी समाधि का लाभ होता है। शरीर को इस प्रकार ढीला करके सुख से किसी भी सहारे से रख कर सोने जैसा मीठी नीन्द जैसा या निद्रा जैसा गहरी नीन्द जैसा भान करे, इस रीति से शरीराङ्गों तन्तुओं में पूर्णविश्राम देने से चित्त स्थिर शान्त समाहित हो जाता है।

प्राण के द्वारा मन को स्थिर करना—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥

(योग० १ । ३४)

प्राण के प्रच्छर्दन अर्थात् अन्दर के वायु को दोनों नासिका-छिद्रों द्वारा प्रयत्नविशेष से वमन करने—बलवेग से बाहिर फेंकने और विधारण अर्थात् रोकने से चित्त स्थिर होजाता है। प्रच्छर्दन में बल लगता है और विधारण–प्राणायाम में साहस एवं धैर्य धारण करना होता है, जहां बल और साहस किया जाता है वहां मन संलग्न हो जाता है अतः मन स्थिर होजाता है। इस पर विशेष प्राणायाम प्रसङ्ग में कह आए हैं।

इन्द्रियों के द्वारा चित्त को स्थिर करना—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥

(योग० १ । ३५)

विषयवाली इन्द्रियप्रवृत्ति उत्पन्न की हुई भी मन की स्थिति बान्धने वाली है। जैसा कि व्यास भाष्य में कहा है कि "नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित् सा गन्धप्रवृत्तिः" नासिका के अग्र भाग पर धारणा करते हुए अभ्यासी को जो दिव्य गन्धानुभूति हो जाती है वह गन्धप्रवृत्ति है। "जिह्वाग्रे रस संवित्" जिह्वा के अग्र-भाग पर धारणा करते हुए अभ्यासी की जो दिव्य रसानुभूति है वह रस प्रवृत्ति है। "तालुनि रूपसंवित्" तालु—काकुआ के ऊपर तलवा जो दोनों आंखों के रूप का केन्द्र है वहां धारणा करते हुए अभ्यासी की जो दिव्य रूपानुभूति है वह रूपप्रवृत्ति है। "जिह्वा मध्ये स्पर्श-संवित्" जिह्वा के मध्य में (ठीक उस काकुए के नीचे) धारणा करते हुए अभ्यासी की जो दिव्य स्पर्शानुभूति है वह स्पर्श प्रवृत्ति है। "जिह्वामूले शब्दसंवित्" जिह्वा के मूल में जहां कि दोनों कानों का सम्बन्ध है और वाणी या शब्दोच्चारण का भी केन्द्र है वहां धारणा करते हुए अभ्यासी की जो दिव्य शब्दानुभूति है वह शब्द प्रवृत्ति है।

नासिका आदि इन्द्रियों में गन्ध आदि की प्रवृत्तियां-बीज भावनाएं या बीजशक्तियां हैं वे ही वस्तुतः बाहिर के गन्ध आदि में गन्धत्व आदि की अनुभूति का कारण हैं वे ही मानो उनमें गन्धत्व आदि का पुट देती हैं वे ये यदि किसी की मारी जावे उस मनुष्य को गन्ध-

वाली वस्तु में से गन्ध न प्रतीत होगी ऐसे ही रस वाली से रस रूप वाली से रूप स्पर्श वाली से स्पर्श शब्द वाली से शब्द का अनुभव न होगा। नासिका आदि इन्द्रियों की इन गन्ध आदि विषयवती प्रवृत्तियों को धारणा द्वारा उद्‌बुद्ध उद्‌भूत कर लेने से उनमें चित्त स्थिर हो जाता है।

चित्त के द्वारा चित्त को स्थिर करना--

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥

(योग० १ । ३७)

वीत-विगत—अलग हो गया है विषयों से राग जिसका वह ऐसा विषयों के राग से रहित चित्त अथवा वीत-विगत हो गया समाप्त हो गया राग नामक विषय जिसका ऐसा रागरहित-विराग वाला वैराग्य वाला चित्त स्वतः स्थिर हो जाता है। क्योंकि राग ही तो चित्त को विचलित करता है।

आत्मा के द्वारा चित्त को स्थिर करना--

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥

(योग० १ । ३६)

शोकरहित--स्वरूपतः शोकरहित ज्योतिर्मयी अहं ज्योतिस्सत्ता या प्रवृत्ति भी चित्त को स्थिर करने वाली है "अस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति" (व्यासः) अस्मिता में—मैं हूं इस अपने रूप में समापत्ति को प्राप्त चित्त निःस्तरङ्ग महासागर के समान शान्तरूप अस्मितामात्र है। जैसे अन्यत्र कहा भी है "तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं ताव-

त्सम्प्रजानीत इति" (व्यासः) उस अणुमात्र आत्मा को अनुभव करके "मैं हूं" ऐसा अपने को जानता है। हृदय देशमें आत्मा है, शरीराङ्गों से धीरे धीरे अपनी वृत्ति हटाते हटाते अर्थात् पैरों से छाती तक के अङ्ग न होने के समान हैं ऐसा उन्हें थोडा थोडा करके भुला दे पश्चात् हाथों से कन्धे तक भुला दे पुनः शिर से छाती तक भुलादे फिर हृदय में अहं ज्योति रूप आत्मा को अनुभव करे, ऐसा करने से भी चित्त स्थिर तथा शान्त हो जाता है।

ईश्वर के द्वारा चित्त को शीघ्र स्थिर कर समाधि लाभ लेना—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥

(योग० १।२३)

ईश्वर में प्रणिधान करने से सर्वात्मना समर्पण करने से* शीघ्र चित्त स्थिर हो जाता है या शीघ्र समाधिलाभ होता है।

सो कैसे यह देते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः।
तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥

(योग० १।२७, २८)

उस ईश्वर का वाचक उसे यथावत् दर्शाने वाला प्रणव अर्थात् ओ३म् है। ओ३म् उसकी प्रकृष्ट स्तुति—उपासना का साधन है।

---

* 'धा' से धान—धरना भूमि आदि के ऊपर धरना रख देना, निधान-भूमि आदि के अन्दर छिपाना सुरक्षित रख देना जैसे निधि, प्रणिधान—सर्वात्मना समर्पित कर देना सौंप देना उससे अलग न हो सकना।

नाम तो ईश्वर के अन्य भी हैं परन्तु वे एक एक गुण या कर्म को लेकर हैं उनसे एक एक गुण का लाभ लोकनिर्वाह के लिए हो सकता है परन्तु सर्वाङ्ग उपासना ईश्वरप्रणिधान के रूप में तो ओ३म् नाम से ही होती है कि उस ओ३म् वाचक का जप और उसके अर्थ वाच्य ईश्वर का भावन अर्थात् अन्तरात्मा में सम्प्राप्ति अनुभूति करना। इस सूत्र पर व्यासभाष्य में कहा है कि—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

स्वाध्याय अर्थात् ओ३म् के जप से योग अर्थात् अर्थभावन को प्राप्त हो—अन्तरात्मा में धारण करे पुनः अर्थभावन से जप करे, इस प्रकार दोनों की पुनः पुनः क्रमशः आवृत्तिद्वारा स्वाध्याय—ओ३म् के जप और योग–अर्थभावन की सम्पत्ति–सम्पुष्टि से ईश्वर का साक्षात् होता है।

ओ३म् का अर्थ साकल्य रूप से माण्डूक्योपनिषद् में दिया है उक्त उपनिषद् के अनुसार अर्थभावन करना उत्कृष्ट है जो कि परम योगियों का मार्ग है। साधारण जन के लिये शाब्दिक अर्थ का भावन करना भी उपयुक्त है, ओ३म् शब्द 'अव' धातु से सिद्ध किया गया है 'अव' धातु रक्षण आदि अर्थों में है प्रधान अर्थ रक्षण है। माता रक्षा करतो है पिता रक्षा करता है गुरु रक्षा करता है मित्र रक्षा करता है राजा रक्षा करता है और घर भी रक्षा करता है, परन्तु इन सब से अधिक और सर्वथा सर्वदा सर्वत्र अर्थात् संसार में एवं मोक्ष में भी रक्षा करने वाला ईश्वर ही है। बूढ़े जन का सहारा

लाठी है तो वह टूट जाने वाली छूट जाने वाली है और कोठी फूट जाने वाली तथा सम्बन्धी आदि व्यक्ति रूठ जानेवाली हैं। संसार के समस्त सहारे टूटने वाले छूटने वाले फूटने वाले रूठने वाले हैं, परन्तु—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

(कठो० १ । २ । १७)

यह आलम्बन (सहारा) श्रेष्ठ है यह आलम्बन अभीष्ट है इस आलम्बन को जानकर ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त होता है।

अत एव परमात्मा को परम माता परम पिता परम गुरु परम मित्र परम राजा परम आश्रय मान कर अन्य वस्तुओं से अन्य सम्बन्धों से अपने को हटा करके शरीर ढीला कर अङ्ग अङ्ग को भुला कर निज आत्मा को परमात्मा परमेश्वर में निमग्न कर दे और उसे अपने आत्मा में आभरित करले मैं उसमें हूं वह मेरे में है।

शीघ्र समाधि लाभ लेने के लिए निजी व्यवहार और शरीर आदि सम्बन्धित पदार्थों के द्वारा क्रमिक, श्रेष्ठ तथा आन्तरिक अभ्यास कहा जा चुका। अब बाहिरी अभ्यास भी चित्त की स्थिरता के लिए दिया जाता है।

सुलभ सुगम वस्तु पर अभ्यास कर चित्त को स्थिर करना—

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥

(योग० १ । ३९)

जो भी वस्तु अभिमत–अभीष्ट–पसन्द हो उसका ध्यान करने से भी चित्त स्थिर हो जाता है*। परन्तु यह निर्बल पक्ष है ऐसा इस सूत्र के व्यास भाष्य से स्पष्ट है "तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभते" वहां स्थिति प्राप्त कर अन्यत्र भी स्थिति प्राप्त कर सकता है। यह टिप्पणी इस सूत्र पर व्यासभाष्य में होने से ध्यान का यह निर्बल पक्ष है ऐसा सिद्ध करती है। परन्तु यह भी स्मरण रहे कि इस पक्ष को मूर्तिपूजा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि पूजा और ध्यान में भारी अन्तर है, पूजा तो बाहिरी व्यवहार है और ध्यान मन का कार्य है। सूत्र में "यथाभिमतध्यानात्" ध्यान कहा है न कि "यथाभिमतपूजनात्" पूजा। मूर्ति के भिन्न भिन्न अङ्गों तथा रंगों में मन भटकता रहेगा स्थिर नहीं हो सकता। हां! इस सूत्र में प्रदर्शित अभ्यास अत्यन्त छोटा है। इससे आगे क्रमशः बढना चाहिये। आगे बढते बढते—

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥

(योग० १। ४०)

सूक्ष्म या लघु वस्तु में अभ्यास की अन्तिम सीमा परमाणु अर्थात् परम–अणु है जिसका किसी बाह्य साधन से विभाग करना

* किसी एक छोटी सी हरी पत्ती या चन्द्रमा को (द्वादशी से पूर्णिमा तक तथा पूर्णिमा से आगे भी तृतीया तक एवं सप्ताह भर बढते और घटते हुए प्रकाशमान चन्द्रमा को ध्यान से देखना ५ मिनट से आध घण्टे पर्यन्त। या कानों से किसी नदी झरने आदि की गूंज ध्वनि को ध्यान से कानों से सुनना आदि।

तो क्या बुद्धि से भी विभाग न हो सके, उस तक तथा महद् वस्तु में अभ्यास की अन्तिम सीमा परम महद् वस्तु जिसका बुद्धि से भी पार या परला छोर न आंका जा सके वह आकाश है उस तक इस चित्त का वशीकार करना चाहिये, इस प्रकार यह अभ्यास की पराकाष्ठा है।

परमाणु और परम महत् वस्तु तक अभ्यास कर लेने पर--

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥

(योग० १।४१)

जैसे शुद्ध चमकदार स्फटिक मणि उपाश्रयभेद--सम्पर्कभेद से--निकट में रखे हुए जिस जिस रंग वाले फूल के संग से उस उस रंग का आभास लेकर वैसी वैसी चमकती है ऐसे ही यह चित्त परमाणु और परम महत् तक के अभ्यास द्वारा क्षीणवृत्ति--शुद्ध चमकीला बन जाता है तो ग्रहीता--ग्रहण--ग्राह्य* अर्थात् क्रमशः ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीता+ के अभ्यासों में उस उस वस्तु में रखने वाले धर्म की अभिव्यक्ति कराने वाली समापत्ति तद्धर्मरूपसमाधि हो जाती है। इस प्रकार इस सूत्र में अभ्यास के तीन मार्गों का निर्देश है जो मार्ग हैं ग्राह्यमार्ग, ग्रहणमार्ग, ग्रहीतृमार्ग।

ग्राह्यमार्ग--ग्रहण करने योग्य बाह्य गन्ध आदि विषय हैं उनका अभ्यास मार्ग ग्राह्यमार्ग है।

---

* यह शास्त्रक्रम है।

+ यह अभ्यासक्रम है।

ग्रहणमार्ग—जिसके द्वारा ग्राह्य को पकडते हैं वे ग्रहण हैं नासिका आदि इन्द्रियां, उनके अभ्यास का मार्ग ग्रहणमार्ग हैं।

ग्रहीतृमार्ग—ग्रहीता अर्थात् ग्रहण करने वाला आत्मा का परमात्मा में समर्पणक्रम या प्रवेशक्रम का मार्ग ग्रहीतृमार्ग है।

ग्राह्यमार्ग में पृथिवी की गन्धतन्मात्रा से लेकर प्रकृतिपर्यन्त अभ्यास किया जाता है। पुनः प्रकृति को भी छोड़ देने से निर्बीज समाधि हो जाती है।

ग्रहणमार्ग में नासिका शक्ति से लेकर अन्तःकरण के अहङ्कार तक अभ्यास किया जाता है पुनः उसे भी त्याग देना निरालम्बन समाधि है।

ग्रहीतृमार्ग में ओ३म् या ओङ्कार की उपासना अ–उ–म्–० का वाचक अभ्यास जप और अर्थभावन वाच्य रूप जाग्रत्–स्वप्न–सुषुप्त–तुरीय ब्रह्म के साथ ग्रहीता आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध जोडते चले जाने का अभ्यास ग्रहीतृमार्ग है। पुनः अन्त में तुरीय ब्रह्म में अपने को निमग्न कर देना असम्प्रज्ञात समाधि है।

इन ग्राह्यमार्ग आदि का संक्षिप्त विवरण करते हैं—

ग्राह्यमार्ग—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥

(योग० १।४५)

सूक्ष्म विषय पर अभ्यास करते करते अन्त में अलिङ्ग अर्थात् प्रकृति तक अभ्यास किया जाता है।

इस सूत्र के व्यास भाष्य में स्पष्ट किया है कि पार्थिव अणु की

गन्धतन्मात्रा सूक्ष्म विषय है, जल की रस तन्मात्रा सूक्ष्म विषय है, अग्नि की रूप तन्मात्रा सूक्ष्म विषय है; वायु की स्पर्श तन्मात्रा सूक्ष्म विषय है, आकाश की शब्द तन्मात्रा सूक्ष्म विषय है, क्रमशः उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय है पुनः उनसे भी अधिक सूक्ष्म अहङ्कार है, अहङ्कार से महत्तत्त्व और महत्तत्त्व से भी सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति है* ।

गन्धतन्मात्रा का अभ्यास—

देशी कपूर ३ माषा डली को किसी खुली डब्बी या खुलेमुह वाली शीशी में हाथ पर रखकर आसन लगा आंखे बन्दकर नासिका (नाक) से इंच डेढ इंच दूर सामने सीधे और नीचे के समकोण में रखकर आध मिनट के लिये ऐसे सूंघे कि इसकी गन्ध के कण नासिका के अन्दर की त्वचा में कैसा कैसा स्पर्श करते हैं, इस प्रकार आधमिनट सूंघकर हाथ बन्द कर पृष्ठ के पीछे लेजावे और मन में दो मिनट तक याद करे ऐसे चार वार करे सबके अन्त से ५ मिनट ध्यान करे। यही क्रम सायङ्काल भी करे। दूसरे दिन तीन वार ही सूंघे बीच में अन्तर पीछे रखने को तीन मिनट का दें अन्त में १० मिनट गन्ध का ध्यान करे तीसरे दो वार सूंघें अन्तर पांच मिनट दे अन्त में १५ मिनट बैठकर गन्ध का ध्यान करें। चौथे दिन एकवार सूंघना और अन्त में २० मिनट गन्ध का ध्यान करे।

---

* "पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषय आप्यस्य रसतन्मात्रं तैजसस्य रूपतन्मात्रं वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रमाकाशस्य शब्द-तन्मात्रमिति। तेषामहङ्कार अस्यापि लिङ्गमात्रं सूक्ष्मो विषयः, लिङ्गमात्रस्यालिङ्गं सूक्ष्मविषयः।" (योग० १। ४५ व्यास)

पांचवे दिन प्रातः अभ्यास में बैठने से घण्टा डेढ घंटा पूर्व कपूर गन्ध सूंघले पुनः निश्चित समय पर नासिका में मन रख २५ मिनट गन्ध का ध्यान करे सायंकाल ३ घण्टे पीछे गन्ध का ध्यान करे आधे घण्टे तक छठे दिन छः घण्टे पहिले कपूर सूंघकर ३५ मिनट तक पीछे गन्ध का ध्यान करे और सायंकाल १२ घण्टे पहिले अर्थात् प्रातः ही सूंघकर सायंकाल ४० मिनट गन्ध का ध्यान करे। अब आगे गन्ध सूंघने की आवश्यकता नहीं है* !

इस अभ्यास में तीसरे चौथे दिन से अभ्यास की गन्ध में रोचकता बढती जावेगी और जिस दिन से कपूर गन्ध सूंघने का आश्रय छोड़कर अभ्यास चलेगा उस दिन से दो बातों में उत्तरोत्तर वृद्धि होगी एक समय की अर्थात् आध घण्टा पौना घण्टा डेढ घण्टा दो घण्टा आदि तक गन्ध का अनुभव होगा, दूसरे रोचकता बढती जावेगी, मधुर मधुर गन्ध रुचिकर होती जावेगी। चन्दन आदि से भी अभ्यास किया जा सकता है वह कुछ कठिन है किन्तु वहां भी अभ्यास से गन्ध का इतर, इतर का इतर सैकड़ों सहस्रों गुणां बढ-बढकर रोचक रूप में खिचता जावेगा दिव्य गन्ध का गन्धामृत के रूप में अनुभव होगा, चन्दन से गन्ध सीधे चन्दन काष्ठ से दूसरे चन्दन तेल से तीसरे चन्दन के सुगन्धसार (इतर) से मनुष्य लेता है इतर से आगे कोई मानव की मशीन नहीं है परन्तु ईश्वर की मशीन यह

* मिनटों का क्रम घड़ी देखकर नहीं किन्तु अनुमान से बनावें। गर्मी में अभ्यास से पूर्व दोनों समय स्नान करे जाड़ों में प्रातः तो अवश्य स्नान करे सायं मुह हाथ प्रक्षालन अवश्य करें। जाड़ों में गरम गन्ध तुलसी के पत्ते आदि से अभ्यास करें।

नासिका (नाक) है जो इतर का भी इतर उसका भी इतर क्रम से सैकड़ों गुणा सहस्रगुणा निकाल देती है अभ्यास द्वारा अभ्यासी को जहां यह प्रतीत होता है कि संसार में कहीं भी ऐसी कपूर गन्ध या चन्दन गन्ध नहींहै गन्ध के समुद्र में अपने को निमग्न पाताहै साथ ही ईश्वरपर विश्वास होताहै कि नासिका मशीन कैसी अद्‌भुत बनाई है। गन्ध का अभ्यास पक्व हो जाने पर अभ्यास से अतिरिक्त समय में स्वतः अभ्यास गन्ध का कार्य चालू होजाता है कहीं सभा आदि में बैठे हुए व्याख्यान आदि सुनने से चित्त के स्थिर होजाने पर। इसके विशेष अभ्यास से नासिका में ही मन रखते हुए गन्धविशेष के नाम का ध्यान न आने पर या स्वयं इसके नामको या इस विशिष्ट गन्ध को भुला देने पर एक गन्ध आवेगी जो किसी से न मिलेगी प्रथम मिट्टी की गन्ध सी लगेगी वह निर्विचार गन्धतन्मात्रा होगी।

विज्ञप्ति—गन्धाभ्यासकाल में इच्छापूर्वक किसी अन्यगन्ध को न सूंघा जावे अन्यथा वह पकड़ी जावेगी अभ्यास की गन्ध में बाधक बनेगी। बहुत देर गन्ध वाले स्थानों में बैठना नहीं चाहिए। अभ्यास से एक घण्टा पूर्व भी किसी गन्धसम्पर्क में न आना चाहिए।

रस तन्मात्रा का अभ्यास—

केले आदि पके हुए मीठे फल को लें, मानों केला लिया उसके चाकू से पांच टुकड़े कर लें, अभ्यास के समय आसन लगा प्राणाया-मादि करके आंख बन्द किएहुए जिह्वाग्र पर उसके एक टुकड़ेका धीरे धीरे स्पर्श आध मिनट तक करें उसके मिठास में मन रखें या उसके रस को मन से परखें पुनः उसे फेंक दे मन वहीं जिह्वाग्र पर रहे दो

मिनट तक उस रस का ध्यान करें । पुनः दूसरी वार दूसरे टुकड़े का विह्वाग्र पर आध मिनट तक स्पर्श करते रहें उसे फिर फेंक दे और मन को वहीं जिह्वाग्र पर रखे हुए ध्यान करे । पुनः उसी प्रकार तीसरी वार फिर चौथी वार अभ्यास करें चौथी वार कर चुकने के अन्त में दो मिनट के स्थान में पांच मिनट तक ध्यान करे, यह गन्धाभ्यास की भांति समझें ।

सेव फल का अभ्यास करना चाहें तो सेव कड़ा फल है उसमें सीधे जिह्वा रस न ले सकेगी परन्तु उसकी विधि यह है कि कश्मीरी अमरी सेव को छील कर उसका एक टुकड़ा किसी एक बारीक छोटे से रूमाल में या छलने में लें उसे दवाते हुए जिह्वाग पर रस टपकावें आध मिनट तक मन रखते हुए उसके स्वाद का अनुभव करे पकड़ें पुनः दो मिनट बन्द करदे परन्तु मन जिह्वाग्र पर ही रहे रस का ध्यान करे फिर दूसरी वार रस टपकावे ऐसे चार बार करे पूर्ववत् ।

रसाभ्यास में भी समय और रोचकता बढती जावेगी आध घण्टा पौन घण्टा घण्टा डेढ घण्टा दो घण्टा आदि तक रस का अनुभव होता जावेगा शतगुणित और सहस्रगुणित होकर दिव्यरस या रसामृत के रूप में कि ऐसा रस केले सेव आदि का संसार में नहीं है । यहां भी विशेष रस प्रतीति में सविचार और विशेष न होने पर नाम का ध्यान न आने पर या उसे भुलाकर जिह्वाग्र पर ही मन रखते हुए निर्विचार रस तन्मात्रा समापत्ति बन जाती है ।

विज्ञप्ति—रसाभ्यासकाल में तीक्षण रस सेवन न करे ।

रूप तन्मात्रा का अभ्यास—

गुलाब का फूल जैसा सुन्दर फूल ताजा लें उसे आसन लगा प्राणायाम कर शान्त बैठ एक फुट की दूरी पर साफ श्वेत वस्त्र पर रखकर आंखों से आधे मिनट के लिये देखें उसके रंग को पकड़ें पुनः आंखें बन्द कर आंखों के अन्दर मन रखते हुए दो मिनट तक उसका स्मरण ध्यान करें पुनः दूसरी बार आध मिनट तक उसी भांति आंखें खोलकर देखें और बन्द कर दो मिनट तक स्मरण ध्यान करे इत्यादि चार वार देखें और स्मरण ध्यान करें अन्त में पांच मिनट तक स्मरण ध्यान करे, अगले तीन वार देखे ध्यान स्मरण करे फिर दो वार फिर एक वार आदि क्रम गन्धाभ्यास और रसाभ्यास की भांति जानें। रूपाभ्यास में गुलाब का दिव्य रूप सुन्हरी गुलाब या रूपामृत–दर्शनामृत बन जावेगा अन्य सजातीय और भिन्नजातीय दिव्यरूपों को लायगा भिन्न भिन्न रंग के दिव्य फूल प्रकाशतरंग फेंकते हुए फूल–फल उद्यान (बगीचे) पक्षी मनुष्यों के भी दिव्यरूप आवेंगे उस समय अपनी कल्पना कुछ न हो। इस प्रकार सविचार रूपानुभव पुनः निर्विचार अग्नि सूर्य चन्द्रमा प्रकाशधारा का निरन्तर प्रवाह आंखों के अन्दर हो होकर हृदय तक पहुंचेगा* ।

स्पर्शतन्मात्रा का अभ्यास—

कांच आदि की चिकनी वस्तु गोल पेपर वेट आदि लेकर आसन लगा प्राणायाम कर आंखें बन्दकर उसका स्पर्श हाथ की हथेली

* "भुवनज्ञानं सूर्यसंयमात्" (योग० ३ । २६) की सिद्धि यहां की जाती है ।

से—हथेली उस पर धीरे धीरे फेरता रहे आध मिनट तक फिर इसके ऊपरसे हाथ उठाकर हाथ की हथेली में मन रखतेहुए दो मिनट तक उसके स्पर्श का ध्यान स्मरणकरे पुनः उन गोले का स्पर्श आध मिनट करके ऊपर हाथ उठा, दो मिनट स्पर्श का ध्यान स्मरण करे पूर्व-वत् गन्धाभ्यास रसाभ्यास रूपाभ्यास की भांति। प्रथम सविचार दिव्य स्पर्श फिर निर्विचार दिव्य स्पर्श वायुजैसा और उससे भी बढकर होगा। स्पर्शानुभूति में अपनी कल्पना न करे।

शब्दतन्मात्रा का अभ्यास—

आसन लगा प्राणायाम कर आंखें भी बन्दकर वीणा (सारङ्गी) के तार को अंगुली से तुनतुन करे आध मिनट तक मन को कानों में लगा उस तुन तुन का निरीक्षण करे उसे पकड़े पहिचाने फिर तार छोड़कर दो मिनट तक कानों में मन रखकर उस तुन तुन ध्वनि का स्मरण ध्यान करे आगे सब अभ्यास गन्धाभ्यास रसाभ्यास आदि के समान जानें। यहां भी समय और रोचकता की वृद्धि होगी। प्रथम तुन तुन की पूरी तान गाने के समान सस्वर बजेगी फिर वाणी की समस्त तारों के तान गान के ढंग में सुनने में आवेगी, पश्चात् अन्य बाजे भी अलग अलग तान बजाते हुए सुनने में आवेंगे फिर वर्गवाद्य अर्थात् सारेबाजे मिलकर तान सुनावेंगे। गानों की तानें एवं वक्तृ-ताएं भी रेडियो के समान भिन्न भिन्न स्टेशनों से दूर निकट बजते गाते हुए सुनने में आवेंगे। सविचार बाजे और गाने सुनेंगे पुनः निर्विचार शब्दतन्मात्रा भी रोचक दिव्य अमृतरूप सुनने में आवेगी।

अहङ्कार महत्तत्त्व प्रकृति का अभ्यास—

शब्दतन्मात्रा का अभ्नास कर लेने पर उससे भी सूक्ष्म अहङ्कार अर्थात् प्रकृति का दूसरा विकार है उसके अभ्यास में विषयतन्मात्रा गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द जैसा भान नहीं होगा इसी से पंचतन्मात्राएं उत्पन्न हुई है "अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि" अतएव शब्दतन्मात्रा के अभ्यास की अनुभूति के अनन्तर जो अनुभब हो वह अहङ्कार है जो स्वरयन्त्र के अन्दर वाले पिछली भीत्ति में प्रतीत होगा तरङ्गों का गोला या गोलरूप में तरङ्गों की घूम, वह बहुत अच्छा लगेगा। पुनः महतत्त्व का अभ्यास उसके आगे स्वरयन्त्र में करना होता है जो अहङ्कार से भी सूक्ष्म और सुखद है जो कि प्रकृति का प्रथम विकार है उसी गोलाकार में तरङ्गों को गोलाई में घूम न होकर केन्द्र में जाती हई या केन्द्र की ओर गति करती हुई तरङ्गें प्रतीत होंगी। पश्चात् स्वरयन्त्र में नीचे को चलते हए कुछ हृदय के समीप या हृदय के तट से संसक्त प्रकृति का अभ्यास बनेगा वह वही तरङ्ग-गोला सर्वथा निस्तरङ्ग केन्द्रलक्षित गोल प्रकृति का स्वरूप अनुभव होगा। यह ग्राह्य मार्गका अन्तिम स्थान है। यहां तक समाधि सबीज समाधि है। इससे आगे प्रकृति को भी छोड देना उसका भी निरोध कर देना निर्बीज समाधि है*।

ग्रहणमार्ग—

इसी उत्तमस्थली के अभ्यास प्रकरण में "इन्द्रियों के द्वारा चित्त

* तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥

(योग० १। ५१)

को स्थिर करना" के प्रसङ्ग में "विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी" सूत्रद्वारा नासिका से श्रोत्र (कान) पर्यन्त इन्द्रियों-इन्द्रियशक्तियों का अभ्यास हम बतलाचुके हैं, प्रथम इस का क्षेत्र है ग्रहणमार्ग में, उक्त इन्द्रियशक्तियों का अभ्यास होचुकने पर आगे अन्तः करण का अभ्यास है। मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार यह चार अन्तः करण या अन्तरणचतुष्टय हैं, आत्मा के पास दो प्रकार के करण अर्थात् साधन हैं एक बहिष्करण और दूसरे अन्तः करण, बहिष्करण तो बाहिर के साधन हैं जो शरीर के बहिः बाहिर हाड मांस के बने हुए हैं परन्तु अन्तःकरण तो शरीर के अन्तः–अन्दर वर्तमान साधन हाडमांस के बने हुए नहीं किन्तु तरङ्ग-शक्ति तन्तुरूप विद्युत् की भांति हैं। जैसे बाहिरी जगत् में विद्युत् की दो तरङ्गें या धाराएं पोजिटिव और नेगीटिव हैं जिन्हें पुरातन काल में शुष्क और आर्द्र नाम से कहा गया है *। ऐसे ही अन्तः करण अर्थात् मन आदि की भी दो दो तरङ्गे या धाराएं हैं। मन के सङ्कल्प विकल्प, बुद्धि के सन्देह निर्णय, चित्त के भूतस्मरण भावी स्मरण, अहङ्कार के अहंमम (मैं मेरा) दो दो धर्म। इनके

---

* बाल्मीकि रामायण में विश्वामित्रद्वारा राम को अस्त्रप्रदान-प्रकरण में विश्वामित्र ने राम को वैद्युत अस्त्र देते हुए कहा कि—

अशनी द्वे प्रयच्छामि शुष्कार्द्रे रघुनन्दन।

(बाल्मीकि रामायण बाल० २७। ६)

हे राम! मैं तुझे दो बिजुलियां देता हूं जिन में एक शुष्क है और दूसरी आर्द्र है।

अभ्यासार्थ नासिका आदि इन्द्रियों का अभ्यास कर चुकने के अनन्तर एकान्त शान्त स्थान में बैठकर मन का निरीक्षण करे उसकी दो धाराओं या तरङ्गों सङ्कल्प (प्राप्ति की इच्छा) और विकल्प (हटाने की इच्छा) को देखे परखे उनमें से अशिव (बुरे) को हटावे या बन्द करे, शिव (अच्छे) का शक्तिलाभ ले, पुनः उसे भी बन्द करदे। इन दोनों सङ्कल्प विकल्प तरङ्गों के द्वारा मन संसार में बिखरा रहता है वह अपने में स्थिर होकर अपने स्वरूपदर्शन का अतीव सुखलाभ देगा। बुद्धि के सन्देह और निर्णय को देखें परखें उन्हें अशिव से हटावे और शिव का शक्तिलाभ ले पुनः उसे भी बन्द करदे इन दोनों के द्वारा बुद्धि संसार में बिखरी रहती है बन्द होजाने पर बुद्धि अपने रूप में स्थिर होकर अपना स्वरूप सम्मुख रखदेगी जिससे मन की अपेक्षा विशेषसुखलाभ मिलेगा। चित्त के भूतस्मरण और भावीचिन्तन को देखे परखे अशिव को बन्द करदे और शिव का शक्ति लाभ ले पुनः शिव भूतस्मरण और भावी चिन्तन को भी बन्द करदे; इन दोनों के द्वारा चित्त संसार में बिखरा रहता है दोनों बन्द होजाने पर चित्त अपने में स्थिर होकर और भी अधिक सुखलाभ पहुँचायगा। अहङ्कार के अहंमम अर्थात् मैं और मेरा अनुभव ये दो तरङ्गें हैं इन्हें अशिव से हटाकर शिव का शक्तिलाभ ले पुनः उसे भी बन्द करदे इन दोनों के द्वारा अहङ्कार संसार में बिखरा रहता है इनके बन्द होजाने पर अहङ्कार अपने में स्थिर होकर अपने स्वरूपदर्शन का सर्वाधिक सुखलाभ पहुँचायगा। ये सालम्बन समाधियां हैं अहङ्कार के स्वरूपदर्शन

को भी त्याग देने पर निरालम्बन समाधि हो जाती है।

गहीतृमार्ग—

आत्मा के सम्मुख ईश्वरास्तित्व के आने की चार स्थितियां हैं जोकि ओ३म् की उपासना से बनती हैं 'अ,उ,म्,०' के क्रम से जिनका समुदाय ओ३म् शब्द है।

(१) अ=जागरितस्थानी परमात्मा—स्थूल जगत् में उसके गुणों द्वारा दर्शन या प्रत्यक्ष अपने स्थूल शरीर द्वारा।

(२) उ=स्वप्नस्थानी परमात्मा—सूक्ष्म जगत् में उसके गुणों-द्वारा दर्शन या प्रत्यक्ष अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा।

(३) म्=सुषुप्तस्थानी परमात्मा—अव्यक्त प्रकृति में उसके गुणों द्वारा दर्शन या प्रत्यक्ष अपने कारण शरीर द्वारा।

(४) ० इति–विराम अव्यवहार्य तुरीयावस्थागत निरपेक्ष स्वरूप में वर्तमान परमात्मा का स्वरूपदर्शन या प्रत्यक्ष अपनी एकात्मता में।

इन अवस्थाओं में प्रवेश माण्डूक्योपनिषद् की रीति से (३, ९।४, १०।५, ११।७, १२ वचनों के अर्थ विचार द्वारा) होगा क्योंकि उसमें ओ३म् की व्याख्या की गई है* अन्तिम तुरीय स्थिती में तो असम्प्रज्ञात समाधि होती है।

अपितु—

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किञ्चानुजानात्योमित्येव तदाह ॥

(छान्दो० १।१।८)

---

* इसका विवरण देखें हमारे लिखे "माण्डूक्योपनिषद् का स्वरूप" और "योगमार्ग" पुस्तक में ।

यह 'ओ३म्' अनुकूलताप्रदर्शक अक्षर है जिसे अनुकूल मानता है उसके लिये ओ३म् कहता है।

यह 'ओ३म्' नाम किसी भी एक देशी भावना को लेकर ईश्वर का नाम नहीं किन्तु उपास्य ईश्वर को लेकर ही है, इसमें अनुकूलता चार दृष्टि से है। जोकि उच्चारण की दृष्टि से, अर्थ की दृष्टि से, उपासना की दृष्टि से, फल की दृष्टि से।

उच्चारण की दृष्टि से--'अ,उ,म्' ध्वनि का सरल स्वरूप है बाल युवा वृद्ध प्रत्येक ही सरलता से इसका उच्चारण कर सकता है।

अर्थ की दृष्टि से—ओ३म्–ओम् शब्द शब्द शास्त्र में 'अव' धातु से बनाया जाता है 'अव' के रक्षणादि अर्थ हैं प्रधान अर्थ हैं रक्षण ओउम् का अर्थ हुआ रक्षणकर्ता। प्रत्येक जन अपनी पृष्ठ पर रक्षणकर्ता को चाहता है माता, पिता, गुरु, मित्र, राजा, गृह (मकान) रक्षणकर्ता है या रक्षा करने वाला है परन्तु वह ओ३म् नामक परमात्मा इन सब से अधिक रक्षक सर्वथा सर्वदा नितान्त रक्षण है।

उपासना की दृष्टि से—ध्वनि का सरल एकरूप एकरूप ओ३म् है 'अ' ध्वनि को उठाकर अन्त करदेना है यह एक ही अक्षर है। अन्य नामों में मन को भिन्न भिन्न अक्षरों में भटकना होता है।

फल की दृष्टि से--स्थूल से क्रमशः सूक्ष्म अतिसूक्ष्म और अनन्त की ओर चलकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करना।

ग्रहीतृमार्ग में ओ३म् जिसे प्रणव कहते हैं जो कि ईश्वर का

वाचक है उसके सम्बन्ध में प्रणिधान ओ३म् के जप और वाच्य ईश्वर का अर्थभावन स्वात्मा में करने का विधान जैसे योगदर्शन में कहा गया वैसे इसके सम्बन्ध में उपनिषद् में कहा गया है--

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

(मुण्डको० २।२।४)

ओ३म् धनुष् है उसपर चढाने को शररूप बाणरूप में आत्मा हैं और वेधन करने योग्य लक्ष्य है ब्रह्म, अप्रमत्त–सावधान होकर उसका वेधन करना चाहिए शर की भांति शर फेंकने की भांति तन्मय होकर अर्थात् जैसे शर छोडते समय सब कुछ भूलकर लक्ष्य-मात्र में ही दृष्टि होती है अन्यत्र नहीं।

जिसका लक्ष्य ब्रह्म–ईश्वर होता है उसका ईश्वर में प्रणिधान कितना प्रबल होजाता है यह चित्र व्यासभाष्य में अच्छा खींचा है—

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा ।
स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः ॥
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः ।
स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी ॥

शय्या पर बैठा हो अथवा मार्ग में चल रहा हो वह जन स्वस्थ वितर्क जाल से रहित संसार का बीज जो बन्ध अविवेक वासना का क्षय चाहता हुआ नित्ययुक्त अमृत भोग का भागी होता है।

वस्तुतः—

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।

(योग० २ । १)

तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ये तीन बातें क्रियायोग क्रिया के लिये निरन्तर जीवन में या कहिए अभ्यासी की दिनचर्या में अनुष्ठान करने के लिये सेवन करने के लिये योग है। या योग की क्रिया-योग जिस (भूमि) पर स्थिर होता है ऐसी क्रिया है जहां तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान है वहां योग सिद्ध होगा और जहां ये नहीं वहां योग सिद्ध न होगा।

शरीर, मन और आत्मा इन तीनों के द्वारा क्रमशः कर्म, अध्ययन, उपयोग-निजशक्ति प्रयोग-आत्मशक्ति संयोग होता है। शरीर के जिस कर्म का प्रवाह या फल बाहिर की ओर हो वह कर्म है परन्तु जिस कर्म का प्रवाह या फल अन्दर मन में जावे वह तपः है व्यास ने कहा भी है "तपः चित्तप्रसादनम्" तप चित्त को प्रसन्न अर्थात् स्थिर एवं विशुद्ध करता है और वह अबाधमान अर्थात्—शरीर पीडक न हो। मन से अध्ययन होता है जिस अध्ययन का प्रवाह या फल बाहिर हो वह तो अध्ययन मात्र है परन्तु जिस अध्ययन का प्रवाह या फल अन्दर अर्थात् आत्मा की ओर हो वह स्वाध्याय है-'स्वस्याध्यायः' अपना अध्ययन है। आत्मा के जिस व्यवहार का प्रवाह या फल बाहिर हो वह तो आत्मशक्ति का उपयोग संयोग भोगमात्र है परन्तु जिसका प्रवाह या फल अन्दर अर्थात् उसके भी अन्दर विराजमान ईश्वर की ओर हो वह ईश्वर-

प्रणिधान है।

इन तीनों का फल—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥

(योग० २। २)

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश नाम से पीछे कहे इन पांचक्लेशों को सूक्ष्म करनेवाले और समाधिसम्पादन करानेवाले हैं।

समाधि या उपासना का स्थान हृदय—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारित्वात् ॥

(वेदा० १। ३। २५)

हृदय में परमात्मा की उपासना करना मनुष्य के अधिकार को अपेक्षित करके हैं क्योंकि ईश्वर तो अनन्त है आत्मा अनन्त नहीं होसकता किन्तु वह तो एक देशी हृदय में है आत्मा का स्थान या घर हृदय है अतः अनन्त न हो सकने से अपने हृदयरूप घर में परमात्मा की सङ्गति या उपासना करसकता है परमात्मा का स्थान भी होने से उसका समागम वहां होसकता है।

वेद में भी आत्मा का स्थान हृदय कहा है—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

(अथर्व० १०। ८। ४३)

हृदयकमल नौद्वारोंवाला है हृदय में पांच ज्ञानेन्द्रियों के गन्ध

रसरूप स्पर्श शब्द का स्मृतिसंस्कार पडता है तथा मन, बुद्धि, चित्त अहङ्कार ने किस किस को बिठाया है उसका भी संस्कार उपस्थित रहता है। इन नौद्वारों से बाहिरी संस्कार आते हैं अतः ये द्वार हैं। यह प्रकृति के सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुणों से घिरा हुआ है, उसी हृदय में आत्मा को साथ लिये हुए यक्ष महत्–ज्येष्ठ पूजनीय ब्रह्म है उसे ब्रह्म के जानने वाले जानते हैं।

सो कैसे ?––

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति ॥

(बृहदा० ६।४।२३)

शान्त–शमनयुक्त, दान्त–दमनयुक्त, उपरत–वैराग्ययुक्त, तितिक्षु सहनशील–तपोयुक्त, समाहित–निरुद्ध मन वाला होकर जन अपने आत्मा में परमात्मा को देखता है–साक्षात् करता है।

आत्मा में सदा परमात्मा विराजमान है—

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिः स्रोतःस्वापोऽरणीषु चाग्निः। एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसाऽनुपश्यति ॥

(श्वेता० १।१५)

जैसे तिलों में तैल, दही में घृत, स्रोतों में जल, लकडियों में अग्नि व्यापक रहता है ऐसे ही आत्मा में वह परमात्मा व्यापक रहता हुआ ग्रहण किया जाता है जो जन सत्य और तप से इसे

अनुगत देखता है* ।

तथा—

य आत्मनि तिष्ठन् (शत० १४ । ६ । ६ । ३०)

जो आत्मा के भी अन्दर है ।

परन्तु—

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥

(मैत्र्यु० ६ । २०)

चित्त के वासनारहित निर्मल और वृत्ति रहित हो जाने से मनुष्य पुण्यपाप कर्मकलाप को समाप्त कर देता है वह ऐसा प्रसन्नात्मा हुआ जन परमात्मा में स्थिर होकर अव्यय सुख को प्राप्त होता है ।

चित्त का प्रसाद या चित्तवृत्तिनिरोध—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥

(योग० १ । १२)

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उन चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है । यहां व्यास ने कहा है कि "चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय वहति पापाय च" चित्त नामक नदी दो ओर बहती है—कल्याण की ओर भी बहती है और पाप की ओर भी बहती है "या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा, संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा" जो मोक्ष के सम्मुख

---

* दृष्टान्त में व्यापक होना ही लक्ष्य है ।

चलने वाली विवेकरूप निम्न स्थल पर बहने वाली है कल्याणवहा-पुण्यवहा नाम की है और जो संसार की ओर बहने वाली है अविवेकरूप निम्न बहने का स्थल जिसका है वह पापबहा है "तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिली क्रियते। विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेक-स्रोत उद्घाट्यते ॥" उन दोनों धाराओंमें विषय-संसारकी ओर बहने वाली धारा वैराग्य से बन्द की जाती है और विवेक-दर्शन अभ्यास से विवेक स्रोत उद्घाटित किया जाता है।

अपितु—

यथा निरीन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥

(मैत्र्यु० ६। २)

जैसे ईन्धनरहित अग्नि अपनी योनि में शान्त हो जाता है वैसे ही चित्त भी वृत्तिरहित हो अपनी योनि में शान्त हो जाता है। व्यास ने कहा भी है "आत्मकल्पेन वा व्यवतिष्ठते प्रलयं वाऽधिगच्छति" आत्मा जैसा वृत्तिरहित हो जाता है या इसका प्रलय हो जाता है ऐसा कहना चाहिये।

वेद में कहा है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

(यजु० ४०। १४)

ज्ञान और कर्म अर्थात् अध्यात्म ज्ञान-परमात्म ज्ञान-परवैराग्य और अध्यात्म कर्म-योगाभ्यास को साथ साथ जो जानता वह जन

कर्म से–योगाभ्यास से मृत्यु को तर कर ज्ञान से पर वैराग्य से अमृत–अमर ब्रह्मानन्द मोक्ष को पाता है।

इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करना होगा—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

(कठो० २।१।१)

स्वयम्भू परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया अतः मनुष्य बाहिर देखता है आत्मा के अन्दर नहीं देखता। कोई धीर पुरुष होता है जो अमृतत्व की आकांक्षा रखता हुआ इन्द्रियों को बाहिर से बन्द करके अपने अन्दर वर्तमान परमात्मा को देखता है।

और फिर—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन-ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

(मुण्डको० ३।१।५)

निरन्तर सत्य से तप से यथार्थ ज्ञान से और ब्रह्मचर्य से यह परमात्मा प्राप्त करने योग्य है जो कि शरीर के अन्दर ज्योतिर्मय शुभ्र है जिसे निर्दोष यति–संयमी जन देखते हैं।

अभ्यास में सत्य, तप, ज्ञान और ब्रह्मचर्य का पुट सम्पुट होना अनिवार्य है, व्यास ने योगभाष्य में अभ्यास को सत्कार से सेवन

करने में कहा है "तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान् दृढभूमिर्भवति" यहां तप और ब्रह्मचर्य शब्द तो ज्यों के त्यों हैं ज्ञान के स्थान पर विद्या नामान्तर से वस्तुरूप एक ही है और सत्य के स्थान पर श्रद्धा का प्रयोग है सो भी युक्त है सत्य होने पर श्रद्धा होती है "श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः" (यजु० १९। ७७) वेद वचन में कहा ही है। वृत्तिनिरोध के साथ ये चारों आवश्यक हैं।

इस प्रकार—

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या [आ भरेम]

(यजु० ११। २)

हम धारणा द्वारा स्थिर किए मन से ऐश्वर्यवान् प्रकाशक परमात्मा के महैश्वर्य स्वरूप में–सुखों में साधु सुख सर्वोत्तम अनुपम मोक्ष सुख के लिए आत्मशक्ति से अपने को आभरित करें–सर्मपित करें।

मानव को वास्तविक सुख मिलता है जगत्प्रकाशक परमात्मा के ऐश्वर्यस्वरूप में मग्न होने पर और वह उसके ऐश्वर्यस्वरूप को अपने अन्दर धारण करने पर बनता है। परमात्मा के ऐश्वर्यस्वरूप को अपने अन्दर धारण किया जा सकता है स्थिर मन से, स्थिर मन या अभ्यस्त मन ही परमात्मा के ऐश्वर्य स्वरूप में लग सकता है, पुनः अपने अन्तरात्मा में धारण किया जा सकता है। उसके ऐश्वर्यस्वरूप को देखना वस्तु वस्तु में मनन के द्वारा होता है, क्या

स्थूल में क्या सूक्ष्म में क्या महान् में क्या अल्प में उसके व्यापकत्व नियन्तृत्व सर्वज्ञत्व कर्तृत्व का मनन करना। यहां संक्षेप से इतना ही इसका स्पष्टीकरण किया सकता है कि विशाल महान् आकाश में अगणित चन्द्र सूर्य आदि पिण्डों का विशिष्ट विधान में नियमित गति करना व्यापक सर्वज्ञ नियन्ता और कर्ता को सूचित करता है। पृथिवी पर पर्वत और समुद्र का होना इनके कर्ता के कौशल को बतलाता है जो कि पर्वतों पर जल बरस कर पृथिवीपृष्ठ पर मार्ग बना कर बहते हुए समुद्र में जा गिरते हैं, यदि पर्वत और समुद्र न होते तो पृथिवी-पिण्ड के केवल समगोल होने से जलका प्रसार–फैलाव सारे पृथिवीपृष्ठ पर समान हो जाता कहीं भी भूभाग बाहिर न होने से मनुष्य आदि न रह सकते। पक्षियों को देखो बड़े से बड़े पक्षी से लेकर छोटे से छोटे मच्छर भुनगे तक के दो दो पर दोनों ओर वायु पर अपना बोझ तोल कर इच्छाचारी उडने को बनाये हैं। यह रचना बुद्धिपूर्वक है, कोई पक्षी मच्छर भुनगा नहीं कह सकता कि ये दोनों पर मैंने बनाए हैं, वे तो क्या कहेंगे मनुष्य जैसा बुद्धिमान् भी नहीं कह सकता कि अपनी दोनों भुजाएं मैंने बनाई। हृदय, फुप्फुस (फेफड़े), मस्तिष्क हमने बनाए यह तो कोई क्या कह सके। इन सबका बनाने वाला ऐश्वर्यवान् परमात्मा है। समस्त विश्व में उसका ऐश्वर्य कार्य कर रहा है उसके ऐश्वर्यस्वरूप में मन को लगाना परम सुख पाना है।

योगदर्शन के व्यास भाष्य में कहा है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

आगम–श्रवण से, अनुमान–मनन से और ध्यानाभ्यास रस–निदिध्यासन से प्रज्ञा को तीन प्रकार से उपयुक्त करता हुआ जन उत्तम योग–साक्षात्कार प्राप्त करता है इस श्रवणचतुष्टय से इष्ट-सिद्धि होती है।

तथा—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदि-ध्यासितव्यः ॥

(बृहदा० २।४।५)

विश्व के आत्मा परमात्मा का श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार करना चाहिये।

वेद में कहा है—

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिरुपह्वयताम्।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि ॥

(अथर्व० १।१।२)

वेदज्ञान का स्वामी परमात्मा हमारे द्वारा अपनाया हुआ हमें अपनाता है उस ऐसे सच्चे अपनाने वाले की हम श्रुत अर्थात् श्रवण से सङ्गति करें उसके श्रवण से अलग न हों।

वेदशास्त्रों से परमात्मा के स्वरूपगुणों का श्रवण करना

चाहिए—परमात्मा सर्वकर्ता सर्वव्यापक सर्वनियन्ता सर्वज्ञ आनन्द-स्वरूप आदि गुण वाला है। पुनः मनन करना—किसी भी अल्पकाय या महाकाय वस्तु को लेकर विचार करना कि मच्छर का मुख छोटा उसका मानव की आंख से दीखना कठिन है फिर उस इतने छोटे से मुख में उसकी आंख बहुत ही सूक्ष्म (बारीक) बाल से भी सूक्ष्म हैं पुनः बाल से भी सूक्ष्म आंख में काला तिल कितना सूक्ष्म है जिसमें से देखने की धारा निकलती है, इस प्रकार कैसी सूक्ष्म अद्भुत उस परमात्मा की रचना है यह विचार करना। हाथी जैसे महाकाय में मोटी मोटी टांगों के ऊपर उसका मुख सटा हुआ है कैसे खायगा पीयेगा ? इसके लिए लम्बी सूण्ड दे दी, ऊंट भी तो ऊंचा है वह कैसे खावे पीवे ? उसे सूण्ड जितनी लम्बी ग्रीवा (गरदन) दे दी। शरीर में हड्डियों का जोड़ नाडियों का बन्धन आदि आश्चर्यकारक बनाया, अन्नप्रणाली से भोजन का आन्तों में जाकर सूक्ष्म तन्तुओं द्वारा रस ग्रहण कर चुकने पर निःसार पदार्थ का नीचे सरक सरक कर मलद्वार से बाहिर निकल जाना यन्त्रकार्य (मशीन जैसा काम) है, खाण्ड बनाने के लिये गन्ने में से रस खींच आगे सरकाने निःसार पदार्थ फोक को नीचे फेंक देने जैसा काम होता है, जैसे गन्ने का रस खींच खाण्ड बनाने वाली मशीन का निर्माता होता है ऐसे ही शरीरयन्त्र के निर्माता परमात्मा का होना भी अनिवार्य है। विश्व के ग्रह-तारों का गतिक्रम उनके नियन्ता को दर्शाता है, इत्यादि मनन करना। पुनः निदिध्यासन आत्मशक्ति से परमात्मसङ्गति के योगाभ्यासों का सेवन ऐसा करना कि इन्द्रियों

और मन का व्यापार समाप्त होकर आत्मस्वरूप से परमात्मा के साथ समागम कर सके समागम या सङ्गति ही साक्षात्कार है। इस ऐसे चार प्रकार के श्रवण अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार से परमात्मा का सत्सङ्ग प्राप्त होता है आत्मा में परमात्मविषयक आध्यात्मिक स्नेह प्राप्त करने के ये ऐसे हैं जैसे भौतिक देह में भौतिक एवं सात्त्विक स्नेह लेने के लिये दूध, मलाई, मक्खन, घृत चार पदार्थों का सेवन करना है उत्तरोत्तर इनमें स्नेह अधिकाधिक है। दूध में स्नेह है मलाई में अधिक मक्खन में और अधिक घृत तो स्नेह ही स्नेह है। या यों समझिए कि आध्यात्मिक शान्ति नाम के तरु (पौधे) के चारों अंकुरित, पत्रित, पुष्पित और फलित रूप हैं जैसे वनस्पतिरूप पौधे के बीज बोने पर अंकुर आने पर बोने वाले को प्रसन्नता होती है उसके पत्ते आ जाने पर अधिक, फूल आने पर और अधिक, फल आ जाने पर तो सफल मनोरथ हो जाता है इसी भांति श्रवण (अंकुरित) मनन (पत्रित) निदिध्यासन (पुष्पित) साक्षात्कार (फलित) रूप हैं।

सिद्ध स्थली

इस स्थली में अभ्यास का परमार्थ स्वरूप और परम फल एवं वैराग्य की परम सीमा और परम उत्कृष्टता दर्शाई जावेगी। वैराग्य से पुस्तक का आरम्भ है एवं वैराग्य पर पुस्तक का उपसंहार होगा। अभ्यास की अपेक्षा वैराग्य महास्थानी दीर्घायुवाला और व्यापक है, आदि और अन्त में वर्तमान रहने वाला है। अभ्यासरूप, क्रियाकलाप तो अपने व्यवहार काल तक रहता है प्रस्तुत वैराग्य आत्मा में वस जाता है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥

—(योग० ४। ३४)

पुरुष अर्थात् आत्मा के अर्थसाधन में शून्य हुए गुणों--सत्त्व रज तम गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना अर्थात् पुरुष-प्रयोजन साधना--पुरुषनिमित्त भोग साधना में अकिञ्चन हो जाना मृत हो जाना या चितिशक्ति—चेतन पुरुष आत्मा का स्वरूप में प्रतिष्ठा

पा लेना--प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य अर्थात् पुरुष या आत्मा का मोक्ष है।

तथा—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥

(योग० १ । ३)

चित्तवृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर द्रष्टा—व्यवहारद्रष्टा आत्मा का अवस्थान अपने रूप में हो जाता है या चित्तवृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर आत्मा का अवस्थान द्रष्टा—सर्वद्रष्टा परमात्मा* के स्वरूप में अवस्थान हो जाता है।

चित्त की वृत्तियां निरुद्ध हो जाने पर संसार का व्यवहार न हो सकने से आत्मा का नाश नहीं होता, अपितु चित्त के व्यवहारों को न देख कर अपने में वह अवस्थित हो जाता है या परमात्मा में अवस्थित हो जाता है। आत्मा अकेला नहीं रह सकता किसी के आश्रय में रहना पडता है, जब चित्त से सम्बन्ध छूटा तो प्रकृति का बन्धन टूटा, फिर तो परमात्मा में आत्मा मुक्त रूप से रहता ही है। आत्मा एकदेशी है परमात्मा सर्वव्यापक है अतः परमात्मा में ही उसका उस समय अवस्थान एवं समागम होता है।

पर वैराग्य का स्वरूप—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥

(योग० १ । १६)

---

* "अन्योऽनश्नन्नभिचाकशीति" (ऋ० १ । १६४ । २०) परमात्मा साक्षी द्रष्टा है।

उससे परे अर्थात् पूर्व कहे विषयदोषदर्शन वैराग्य से उत्कृष्ट-ऊंचा वैराग्य है परमात्मदर्शन हो जाने पर गुणों अर्थात् सत्त्व गुण रजो गुण तमो गुण से वितृष्ण हो जाना-वासनारहित हो जाना-विरक्त हो जाना।

विषयों से विरक्त हो जाना तो विषयदोषदर्शन से होता है जैसे भूल से लाल मरिच खाकर मुख जल जाने से बालक मरिच से विरक्त हो जाता है* यह तो विषय दोषदर्शन वैराग्य था परन्तु उसे तुरन्त कोई मिष्टान्न या मीठा फल खाने से स्वाद सुख मिल जावे तो फिर मरिच खाने की बात तो क्या उसके पात्र या उसकी दिशा की ओर भी अरुचि या घृणा बना लेगा उधर न जावेगा। ऐसे ही विषयों के मूलभूत सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण से भी हट जावेगा परमात्मदर्शन में ही रुचि एवं झुकाव हो जाता है, यह वैराग्य ज्ञान-प्रसाद मात्र है क्योंकि ज्ञान की पराकाष्ठा ही वैराग्य है ऐसा व्यास-भाष्य में कहा है "तद् यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रं ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्" (व्यासः) और विना इसके मोक्ष नहीं होता यह भी कहा है "एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यम्" (व्यासः)।

अतएव वेद में कहा है—

* मैंने एक बार बालकाल में उर्दू पुस्तक में पढा कि "मुर्दासंग सात माशे जहेरे कातिल है" तोल कर ७ माषे आत्महत्यार्थ खा लिया खाते ही बुरी तरह मुझे उलटियां हुई, मुर्दासंग से फिर ऐसी ग्लानि हुई कि उसे देखते ही उलटी होने को घबराहट हो जाती थी।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतथं स्मर ॥

(यजु० ४० । १५)

बाह्य वायु भीतरी वायु प्राणशक्ति को धारण करता है और वह मरणधर्मरहित अमर जीवात्मा को धारण करता है, अनन्तर ऐसा तीनों का संगठन न रहने पर किसी एक का भी अभाव हो जाने पर शरीर भस्म हो जाने नष्ट हो जाने योग्य है नश्वर है। अतः हे क्रियाशील एवं प्रज्ञानवान् जन ! तू ओ३म् का स्मरण कर, अपने सामर्थ्य के लिये स्मरण कर, किये हुए एवं कर्त्तव्य का स्मरण कर।

मानव ! जिस शरीर पर तू अभिमान करता है सोच इसका अस्तित्व क्या है ? यह तो नश्वर है इसे शस्त्र से कट कट कर मांस के लोथड़ों में और हड्डियों के टुकडों में हो जाना, अग्नि से जल कर राख कोयला बन जाना, जल में गल जाना, विष से विषण्ण (नीला) हो जाना, रोगों से रुग्ण हो जाना, जरा से जीर्ण निःसार शुष्क काष्ठ सा बन जाना भी इसका धर्म है। मानव ! तू इसे 'मैं' समझ बैठा यदि शरीर मैं होता तो शव (मुर्दा) भी बोल उठता। अतः अपने को जान पहिचान कर जो किया और जो करना है उस पर विचार कर अपने को सोच समझ, अपने इष्टदेव ओ३म् का स्मरण कर। इस शरीर के रहते हुए ये तीन कार्य कर ले, अन्त में ओ३म् का स्मरण मृत्युरूप महादुःखसागर में डुबकियां खाते हुए तुझ आत्मा को विमान में बिठा कर उडा ले जावेगा मोक्षधाम में

पहुँचेगा।

विश्वनायक परमात्मा के प्रति अपना समर्पण कर देने वाले की अनुभूति--

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्। वि मे मनश्चरति दूर आधीः किंस्वित् वक्ष्यामि किमु नु मनिष्ये ॥

(ऋ० ६।९।६)

मेरे कान विश्वनायक परमात्मा में विशेषरूप से चले गए—उसके श्रवण में लग गए उसी का श्रवण चाहने लगे, नेत्र उस विश्वनायक परमात्मा में विशेष रूप से पहुंच गए—उसी की विभूति को देखने में लग गए, यह जो हृदय में विराजमान अहं ज्योति है वह विश्वनायक परमात्मा में विशेष रूप से समाविष्ट हो गई उसे ही अपना लिया सब कुछ अपना बना लिया, दूर दूर की सोचने वाला मेरा मन उस विश्वनायक परमात्मा में विशेष रूप से चला गया—उसी का चिन्तन स्मरण करता है, मैं अपनी इस स्थिति को क्या कहूं क्या मानूं।

मानव अपने को परमात्मा के प्रति समर्पण क्या कर देता है समस्त क्रियाकलाप और साधनसामग्री का प्रवाह बाहिर से बन्द होकर उनसे उसी के राग गाने में रत होजाता है और अनुभव करता है कि ये मेरी आंखें वस्तु वस्तु में तुझ व्यापक देव की छवि को तेरी विभूति को निहारती हैं। मेरे कान तेरे गुणगान तेरे भजन कीर्तन तेरे कथन प्रवचन सुनने में विशेष चलते हैं, मेरा मन

दूर दूर की सोचनेवाला तेरे स्मरण चिन्तन में डूब गया और हृदय में विराजमान अहंज्योति आत्मा भी तेरे में विशेषरूप से स्थान प्राप्त कर बैठा है तेरे ही महत्त्व में रत होगया। मुझे आश्चर्य है कि तेरे प्रति स्वात्मसमर्पण से मैं क्या से क्या होगया इसे क्या कहूं और क्या मानूं वास्तव में कहने और मानने से परे की बात है यह तो केवल आत्मा में अनुभवमात्र का विषय है।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माभिगच्छति॥
यः शब्दस्तदो ३ मित्येदक्षरं ... यदस्याग्रं
तच्छान्तमशब्दमभयमशोकमानन्दं स्थिरमचल-
च्युतं ध्रुवम्॥

(मैत्र्यु० ६। २२, २३)

दो ब्रह्म जानने चाहिएं उनमें एक है शब्दब्रह्म दूसरा परब्रह्म, शब्दब्रह्म में निष्णात जन परब्रह्म को प्राप्त करता है। शब्दब्रह्म है 'ओ३म्' अक्षर, और उसके आगे जो अशब्द ओ३म् के 'म्' बोल-चुकने के पश्चात् विराम है वह शान्त अभय अशोक आनन्द स्थिर अचल अच्युत ध्रुव है इसे प्राप्त करता है, उस ओ३म् वाचक के द्वारा अर्थात् उसके यथावत् ज्ञानपूर्वक जप और अर्थभावन से*।

परमात्मा में समाहित होने उसमें समाधि प्राप्त करने की आकांक्षा या उसमें समाधि पालेने की स्थिति—

---

* जैसे योगदर्शन में कहा है "तज्जपस्तदर्थभावनम्"
(योग. १। २८)

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् ।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥

(ऋ० ८ । ४४ । २३)

हे ज्ञानमय तेजःस्वरूप परमात्मन् ! जबकि मैं तू होजाऊं और तू भी मैं होजा तो तेरे आशासन—आदेश या तेरी हित-भावनाएं इस जीवन में सत्य होजावें।

ज्ञानमय तेजःस्वरूप अग्निरूप परमात्मा के योग में उपासक की भावना है कि "परमात्मन् मेरे और तेरे में अतिसामीप्य संसर्ग संश्लेष होजावे जिसमें मैं तू हो जाऊं और तू मैं होजा—मैं तुझे सम्मान देने को झुकूं तू मुझे गुणदान देने को झुके "यह कथन ऐसा है जैसे अग्नि में लोहे का गोला पड़ नम्र बन जाता है और अग्नि उसमें प्रविष्ट हो ताप और प्रकाश प्रदान कर देता है। उपास्य के गुण उपासक में आजाया करते हैं ऐसा ऋषि दयानन्द ने भी सत्यार्थप्रकाश में लिखा है। वेद में भी कहा है कि "तेजोऽसि तेजो मयि धेहि" (यजु० १९ । ९) परमात्मन् ! तू तेजःस्वरूप है मुझ में भी तेज धरदे, ये गुण अधिकांश में आतेहैं सर्वांश में नहीं। अग्नि में भीलो हे का गोला तापवान् और प्रकाशवान् होकर अपने गोलरूप में रहता ही है। एवं लोहे में प्रविष्ट अग्नि गोलरूप में भासती है लगती है, परन्तु उस गोले से बाहिर भी तो है। हां, सम्पर्ककाल में लोहे ने अपनी कठोरता और कालिमा को छोड़ दिया या कठोरता और कालिमा छोड़ देना उसके लिये अनिवार्य है, ऐसे ही मानव को उस ज्ञानमय तेजःस्वरूप परमात्मा के सम्पर्क में अहङ्काररूप कठोरता

और वासनारूप कालिमा को त्याग देना होता है, यही स्थिति समाधि की है।

समाधि का सुख—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

(मैत्र्युप० मैत्रायणी उ० ६। ९)

समाधिद्वारा निर्मल चित्तवाले अभ्यासी को परमात्मा में आत्मा का निवेश—अन्दर प्रवेश करने पर जो सुख होता है वह वाणीद्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता किन्तु स्वयं अन्तकरण में ग्रहण किया जाता है।

मुक्ति का सुख—

मुक्ति शून्यावस्था है वहां संसार के चहल पहल रङ्गराग नहीं, परमात्मा की शून्य शरण में क्या करना ? किन्हीं का ऐसा मानना ठीक नहीं। क्योंकि संसार में समस्त चहल पहल या रङ्गराग तो परमात्मा की कला या उसका चित्र ही है, कला से कलाकार और चित्र से चित्रकार का स्थान ऊंचा है वह चाहे तो पत्थर काष्ठ या चिकने पारदर्शक दर्पण तक पर चित्र खींच सकता है। चन्दन काष्ठ में गन्ध का ग्राम और सन्तरे आदि फल में रस का चित्र रूपवाली आदि वस्तुओं में रूप आदि का चित्र उस परमात्मा ने ही तो खींचा है; जब उस चित्रकार की शरण लेली तो क्या इनसे वञ्चित रह सकोगे ? यदि चाहोगे तो अवश्य मिल सकेंगे। हां ! वहां पेट फुलाने वाले शोष या फोक नहीं होंगे जो ऊपर नीचे के द्वारा पेट से

निकलने वाले रोग के कारण हैं यद्यपि "मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः" (सांख्य० ६ । २०) मुक्ति दुःख का नाश है इससे अन्य अर्थ नहीं, अर्थात् सुख की प्राप्ति नहीं है परन्तु "तत्राप्यविरोधः" (सांख्य० ६ । २१) उस सुख होने में भी विरोध नहीं हैं क्योंकि सुख भी तो दुःखनाश के अनन्तर ही होता है । शाब्दिक दृष्टि से मुक्ति दुःख से छूटने को कहते हैं सुख पाने में कोई विरोध नहीं है, नदी को तर-जाना पार करना कथन में नदी में डूबने से बचना तो है ही परन्तु पार कर सुरम्यभूमि को पाने में तो विरोध नहीं है वह तो अनि-वार्य स्वतः अभीष्ट है ही । वेद में भी "मृत्युं तीर्त्वाऽमृतमश्नुते" (यजु० ४० । १४) मृत्यु को तरकर अमृत को पाता है यह कहा ही है । तथा "उरुवारुकमिव बन्धनात्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्" (ऋ० ७ । ५९ । १२) खरबूजा फल जैसे बन्धन (डण्ठल) से छूटता है ऐसे ही मैं मृत्यु से छूटूं अमृत से न छूटूं । संसार में दो प्रकार का दुःख है एक केवल दुःख है दूसरा सुखमिश्रित दुःख, केवल दुःख तो आघात, रोग, शोक का है । छत से वृक्ष से गिर पडने या तलवार आदि शस्त्र से कट जाने से आघात दुःख होता है, तीव्र ज्वर शिर-पीडा उदरशूल आदि में तडपने का रोग दुःख, पुत्र पिता पति पत्नी आदि की मृत्यु से शोकदुःख होता है इन दुःख में सुखों का लेश भी नहीं होता ये केवल दुःख हैं इनका मुक्ति में नाम नहीं है और भोग-सुख से मिश्रित दुःख भी मुक्ति में नहीं जोकि परिणामदुःख—भोगों को भोग कर व्याकुलता रोग आदि, तापदुःख—भोगों की प्राप्ति में नाना प्रकार की दौडधूप शरीर वाणी मन से करना और थकना है,

संस्कार दुःख—मन में भोगों के प्रति राग होकर उनके विरोधी से द्वेष अशान्ति अवाञ्छित वासना और पोषक के प्रति अन्यथा स्नेह होजाना, तथा सत्त्वगुण रजोगुण, तमोगुण की मन में, उथल-पुथल हलचल होना। ये सब मुक्ति में नहीं होते हैं। वहां तो मुक्ति में वेद के अनुसार अष्टसुख सम्पत्ति है।

मुक्ति में अष्ट सुखसम्पत्ति—

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव॥
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधी०॥

(ऋ० ९।११३।१०, ११)

जिस मुक्तिधाममें कामसुख हैं और निकाम सुख भी हैं जहां महान् या अनन्त परमात्मा का स्थान है[प्रकृति या प्राकृतिक सम्बन्ध का लेश भी नहीं है] जहां स्वधा है और तृप्ति है वहां मेरे शान्त-स्वरूप परमात्मन्! मुझे अमृत करदे अतः तू मुझ उपासक आत्मा के लिये शान्त आनन्दधारारूप में निरन्तर प्राप्त होता रहे॥१०॥

जिस मुक्ति धाम में आनन्द हैं मोद—हर्ष हैं, मुद-प्रसन्नताएं हैं प्रमुद—शान्तियां हैं। जहां कमनीय वस्तु की कामसुख अभीष्ट धाराएं प्राप्त हैं वहां परमात्मन्! मुझे अमृत करदे। अतः मुझ उपासक आत्मा के लिये शान्तरसधारारूप में बहता हुआ चला आ॥११॥

इन दोनों मन्त्रों में कही "कामाः, निकामाः, आनन्दाः, मोदाः,

मुदः, प्रमुदः, स्वधा, तृप्तिः" यह अष्ट सुखसम्पत्ति मुक्ति में प्राप्त होती है। विवरण निम्न प्रकार समझें—

१—कामाः (बाह्य विषयसुख :दुःखरहित) योग के ग्राह्य मार्ग द्वारा गन्ध तन्मात्रा, रस तन्मात्रा, रूपतन्मात्रा स्पर्शतन्मात्रा, शब्द-तन्मात्रा की अनुभूति के सुख ॥

२—निकामाः (निहितकामाः—इन्द्रियों के अन्दर वर्तमान दिव्य गन्ध संवित् आदि प्रवृत्तियां या शक्तियां पूर्व कामसुखों से भी अधिक सम्पत्तियां योग के ग्रहणमार्गद्वारा प्राप्त की जानेवाली शक्तियां।

३—आनन्दाः (मनोगत सुखविशेष—इन्द्रियप्रवृत्तियों से भी अधिक बढा हुआ सुख) जोकि मन के सङ्कल्प विकल्प बन्द कर देने पर उसके स्वरूपदर्शन से होता है।

४—मोदाः (बुद्धिगत सुखप्रसाद, मन के सुख से भी ऊंचे सुख) जो उसके सन्देह निर्णय धाराओं को बन्द करने पर प्राप्त होते हैं।

५—मुदः (चित्तगत सुखविशेष, बुद्धि के सुख से भी ऊंचे सुख) उसके भूतस्मरण और भावी स्मरण की धाराओं को बन्द करने पर मिलते हैं।

६—प्रमुदः (अहङ्कारगत सुखानुभूतियां) जो चित्त के सुख से भी ऊंचे, अहङ्कार और ममकार की धाराओं को बन्द करने पर।

७—स्वधा (स्वात्मानुभूतिरूप सुख)।

८—तृप्तिः (परमात्मानुभूतिरूप पूर्ण तृप्तिरूप ब्रह्मानन्द।

मुक्तिमें प्राप्त होनेवाली इस अष्टसुखसम्पत्ति में से संसारमें केवल प्रथम प्रकार का सुख 'कामाः' नाम से प्राप्त होता है वह भी दुःख-मिश्रित ही और दुःख की अधिकता से युक्त, उसकी भी आशा में केवल दुःख अर्थात् आघात दुःख, रोगदुःख, शोक दुःख भी तो भुगतना पड़ता ही है।

अतएव—

एवं वैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।

(बृहदा० ३।५।१)

इस विश्व के आत्मा—परमात्मा को लक्ष्य कर ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानी विद्वान् जन पुत्रैषणा—पुत्रलालसा, वित्तैषणा—धनलालसा और लोकैषणा—लोकसम्बन्धीलालसा—लोकप्रसिद्धि की लालसा से ऊपर उठकर भिक्षाचर्य का सेवन करते हैं।

मानव को संसारप्रवाह में पड़े रहने के हेतु उसके अन्दर तीन एषणाएं इच्छाएं या वासनाएं वर्तमान रहती हैं जो कि पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा नाम से शास्त्र में कही गई हैं। पुत्रैषणा का त्याग है पुत्रों की उत्पत्ति न करना तथा पुत्रों के होते हुए भी उनमें मोह एवं सम्पर्क न रखना, वित्तैषणा का त्याग है धनसम्पत्ति का त्याग या उसके अन्दर राग या सम्पर्क न रखना, लोकैषणा का त्याग है लोक में निजी प्रसिद्धि यश मान का त्याग या उधर उपेक्षा

रखना। अपने भोजन को पुत्रों पर, धन पर, लौकिक पद प्रतिष्ठा पर न रखकर भिक्षा पर रखना ऊंचा वैराग्य है और उन एषरणाओं से पृथक् रहने का परम उपाय है। जब भिक्षा करी तब मान प्रतिष्ठा कहां, धन भी फिर किस लिये और पुत्र की ओर भी दृष्टि कैसे? केवल परमात्मचिन्तन और निरपेक्ष लोकसेवा कर्तव्यदृष्टि से करना ही कार्य रहता है।

———

परिशिष्ट

(उत्तम स्थली गृहीतृमार्ग—ओङ्कारोपासना पृष्ठ १२३ का*)

'अ' की उपासना—

"जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥३॥ जागरितस्थानी, व्यक्त जगत् में बुद्धि रखनेवाला, सात भू आदि लोकस्तर अङ्ग रखनेवाला, उन्नीस प्रमुख शक्ति पांच कर्मेन्द्रियों पांच ज्ञानेन्द्रियों मन बुद्धि चित्त अहङ्कार और पांच स्थूल भूतोंवाला, स्थूल जगत् का रक्षक, अग्निवत् विश्वचालक रूप वाच्य-अर्थ है "अकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९॥" 'अ' प्रथम अक्षर वाचक (शब्द) है आप्ति से पूर्णता से जागरितस्थान प्रवृत्ति में पूर्ण 'अ' भी प्रवृत्ति में ध्वनि पूर्ण है तथा जागरितस्थान निवृत्ति में आदि 'अ' ध्वनि भी निवृत्ति में आदि है, उपासक भी प्रवृत्ति में आप्तकाम और निवृत्ति में आदिमान् होजाता है। इन दोनों वचनों का 'अ' वाचक (शब्द) और वाच्य अर्थ की पुनः पुनः आवृत्ति करनी चाहिए।

'उ' की उपासना—

"स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग ऐकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तधुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥४॥ स्वप्नस्थानी, सूक्ष्मजगत् में बुद्धि रखनेवाला भू आदि सूक्ष्म लोकस्तर अङ्गवाला, उन्नीस प्रमुख सूक्ष्मशक्ति वाला, सूक्ष्मजगत् का रक्षक विद्युत् जैसा तैजस धर्म प्रसारक रूप

---

* यद्यपि संक्षेप में विवरण देते हैं परन्तु हमारी माण्डूक्योपनिषद् दीपिका "उपनिषद् सुधासार" और "योगमार्ग" में अवश्य देखें।

वाच्य अर्थ है "उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति य एवं वेद ॥१०॥" 'उ' द्वितीय अक्षर वाचक (शब्द) है उत्कर्ष से स्वप्नस्थान प्रवृत्तिदृष्टि से उत्कर्ष में है 'उ' ध्वनि भी प्रवृत्तिदृष्टि से उत्कर्ष में है तथा निवृत्ति में स्वप्नस्थान उभय-मध्यम है 'उ' भी निवृत्ति में मध्यम है। उपासक भी प्रवृत्ति में उत्कर्ष को और निवृत्ति में मध्यता को प्राप्त करता है। इन दोनों वचनों का 'उ' वाचक (शब्द) और वाच्य-अर्थ की पुनः पुनः आवृत्ति करनी चाहिए। समवायसम्बन्ध से इस समय भी सूक्ष्म जगत् और उसमें वर्तमान परमात्मा है मैं भी सूक्ष्म शरीर में हूं।

'म' की उपासना—

"सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्-चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥ सुषुप्तस्थानी, प्रकृतिमात्र एक अङ्गवाला, गूढ़बुद्धिवाला, अव्यक्तप्रकृति का रक्षक अन्तःकरण शक्तिवाला प्राज्ञ द्रष्टा-सूर्यवत् नियन्त्रक तृतीय पाद रूप अर्थ है "मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सवर्मपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११॥ 'म्' तृतीय अक्षर वाचक (शब्द) है प्रवृत्ति में मापकता होने से, सुषुप्तस्थान प्रवृत्ति में मापक है लिङ्ग है 'म्' ध्वनि भी प्रवृत्ति में मापक—लिङ्ग है तथा निवृत्ति में अपीत है अन्तिम है 'म्' ध्वनि भी निवृत्ति में अन्तिम है। उपासक भी प्रवृत्ति-दृष्टि में संसार को लिङ्गरूप से प्राप्त करता है और निवृत्ति की दृष्टि में अपने देह की अन्तिमता-कारण शरीर तक पहुंच जाता है। इन दोनों वचनों का 'म्' वाचक (शब्द) वाच्य-और अर्थ की

पुनः पुनः आवृत्ति करनी चाहिए, समवायसम्बन्ध से इस समय भी अव्यक्त प्रकृति और उसमें परमात्मा तथा मैं भी कारण शरीर में हूं।

इति=विराम=अमात्र की उपासका—

"नान्तः प्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यम्। एकात्मप्रत्यसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥ अन्तः प्रज्ञ (स्वप्नस्थानी) नहीं, बहिः प्रज्ञ (जागरित स्थानी) नहीं, उभयतःप्रज्ञ (दोनों से मिश्रित) नहीं, प्रज्ञानघन (सुषुप्तस्थानी) नहीं, प्रज्ञ नहीं अप्रज्ञ नहीं अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य=नेति नेति=ऐसा नहीं ऐसा नहीं। केवल आत्मतत्त्व, प्रवृत्ति निवृत्ति से रहित शान्त, शिव–अतुल आनन्दरूप, अपने में वर्तमानरूप वाच्य–अर्थ है। "अमात्रश्चतुर्थो ऽव्यवहार्य 'एकात्मप्रत्ययसारः प्रपञ्चोपशमः शान्तः शिकोऽद्वैत एव- मोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद ॥" अमात्र–विराम है वाचक (शब्द)। उपासक संवेश–नितान्त प्रवेश करता है। इसकी भी पुनः पुनः आवृत्ति करे। इस समय भी समवाय सम्बन्ध से वह मोक्ष में वर्तमान परमात्मा और मैं भी उसमें अब भी हूं।

॥ इति ॥

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

५।७।१९६१ ई०